❀ श्रीश्रीगुरु-गौराङ्गौ जयतः ❀

स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे ।

धर्मः स्वनुष्ठितः पुंसां विष्वक्सेन कथासु यः

भागवत-पत्रिका

नोत्पादयेद् यदि रतिं श्रम एव हि केवलम् ॥

अहैतुक्यप्रतिहता ययात्मा सुप्रसीदति ॥

सर्वोत्कृष्ट धर्म है वह जो आत्मा को आनन्द प्रदायक ।
भक्ति अधोक्षज की अहैतुकी विघ्नशून्य अति मंगलदायक ॥

सब धर्मों का श्रेष्ठ रीति से पालन करते जीव निरन्तर ।
किन्तु हरि-कथा-प्रीति न हो, श्रम व्यर्थ सभी, केवल बंधनकर ॥

वर्ष ६ | गौराब्द ४७४, मास—केशव १३, वार—अनिरुद्ध बुधवार, ३० कार्तिक, सम्वत् २०१७, १६ नवम्बर १९६० | संख्या ५-६

श्रीगोवर्द्धनाश्रय-दशकम्

[श्रील-रघुनाथदास-गोस्वामि-विरचितम्]

सप्ताहं सुरजित्-कराम्बुज-परिभ्राजत् कनिष्ठाङ्गुलि-प्रोद्यद्बल्लु-वराटकोपरि-मिलन्मुग्ध-द्विरेफोऽपि यः ।
पाथः-क्षेपक-शक्रनक्र-मुखतः क्रोडे व्रजं द्रागपात कस्तं गोकुल-बान्धवं गिरिवरं गोवर्द्धनं नाश्रयेत् ॥१॥

इन्द्राद्ये निभृतं गवां सुरनदी-तोयेन दीनात्मना शक्रेणानुगता चकार सुरभिर्येनाभिषेकं हरेः ।
यत्-कच्छेऽजनि तेन नन्दितजनं गोविन्द कुण्डं कृती कस्तं गो-निकरेन्द्र पट्ट-शिखरं गोवर्द्धनं नाश्रयेत् ॥२॥

स्वर्धुन्यादि-वरेण्य-तीर्थगणतो हृद्यान्यजस्रं हरेः सीरि-ब्रह्म-हराप्सरः-प्रियक-तत्-श्रीदामकुण्डान्यपि ।
प्रेम-क्षेम-रुचि-प्रदानि परितो भ्राजन्ति यस्य व्रती कस्तं मान्य-मुनीन्द्र-वर्णितगुणं गोवर्द्धनं नाश्रयेत् ॥३॥

ज्योत्स्नामोक्षण-मल्यहार-सुमनोगौरी-वलारिध्वजा गान्धर्वादि-सरांसि निर्झर-गिरिः शृङ्गार-सिंहासनम् ।
गोपालोऽपि हरिस्थलं हरिरपि स्फूर्ज्जन्ति यः सर्वतः कस्तं गो-मृग-पक्षि-वृक्ष-ललितं गोवर्द्धनं नाश्रयेत् ॥४॥

गंगा-कोट्यधिकं वकारि-पदजारिष्टारि-कुण्डं बहन् भक्त्या यः शिरसा नतेम सततं प्रेयान् शिवादप्यभूत् ।
राधा-कुण्डमणिं तथैव मुरजित् प्रौढ़-प्रसादं दधत् प्रेयस्तत्यतमोऽभवत् क इह तं गोवर्द्धनं नाश्रयेत् ॥५॥

यस्यां माधव-नाविको रसवतीमाधाय राधां तरौ मध्ये चञ्चलके निपात-वलनात्रासैः स्तुवत्यास्ततः ।
स्वाभीष्टं पणमादधे वहति सा यस्मिन्मनोजाह्नवी कस्तं तत्तवदम्पती-प्रतिभुवं-गोवर्द्धनं नाश्रयेत् ॥ ६ ॥
रासे श्रीशतवन्द्य-सुन्दर-सखी वृन्दाञ्चिता सौरभ भ्राजत्-कृष्णरसाल-बाहु-विलसत्-कंठो मधौमाधवी ।
राधा नृत्यति यत्र चारु वलते रासस्थली सा परा यस्मिन कः सुकृती तमुन्नतमयं गोवर्द्धनं नाश्रयेत् ॥ ७ ॥
यत्र स्वीयगणस्य विक्रमभृता वाचा मुहुः फुल्लतोः स्मेर-क्रूर-दृगन्त-विभ्रम-शरैः शश्वन्मिथो विद्धयोः ।
तदयूनोर्नवदान-सृष्टिजकलिर्भंग्या सहन् जृम्भते कस्तं तत्-पृथुकेलिसूचन शिलं गोवर्द्धनं-नाश्रयेत् । ८ ॥
श्रीदामादि-वयस्य-सञ्चयवृतः संकर्षणेनोल्लसन् यास्मिन् गोचय-चारु-चारणपरो री-रीति गायत्यसौ ।
रंगे गृह-गुहासु च प्रथयति स्मार क्रियां राधया कस्तं सौभग भूषिताञ्चित-तनुं गोवर्द्धनं नाश्रयेत् ॥ ९ ॥
कालिन्दीं तपनोद्भवां गिरिगणानस्युन्नमच्छेखरान् श्रीवृन्दाविपिनं जनेप्सितधरं नन्दीश्वरं चाश्रयम् ।
हित्वा यं प्रतिपूजयन् व्रजकृते मानं मुकुन्दो ददौ कस्तं शृङ्गि-किरीटिनं गिरिनृपं गोवर्द्धनं नाश्रयेत् ॥१०॥
तस्मिन् वासदमस्य रम्यदशकं गोवर्द्धनस्येह यत् प्रादुर्भूतमिदं यदीय कृपया जीर्णान्धवक्त्रादपि ।
तस्योद्यद्गुणवृन्द-वन्धुरखलेर्जीवातु-'रूपस्य' तत् तोषायापि अलं भवत्विति फलं पक्वं-मया मृग्यते ॥११॥

अनुवाद—

जिन्होंने एक सप्ताह तक श्रीकृष्णके करपद्मस्थित कनिष्ठा अंगुलिरूप पद्मकोषमें मुग्ध भ्रमरकी भाँति स्थित होकर प्रबल वारि वर्षणकारी इन्द्ररूप नक्र (मगर) के मुखसे व्रजमण्डलकी रक्षा की थी, उन गोकुलके परम बान्धव गिरिवर गोवर्द्धनकी कौन सेवा न करेगा ? ॥१॥

श्रीकृष्ण द्वारा उठाये गये गोवर्द्धनसे गोकुलकी रक्षा हो गयी है—ऐसा जानकर इन्द्रद्वारा लायी गयी सुरभीने जिस निर्जन स्थानमें गंगाजल द्वारा श्रीकृष्णको गौवोंके इन्द्रत्व पद पर अर्थात् गोपालन कर्त्तृत्वपद पर अभिषिक्त किया था एवं जिनके समीप आज भी सर्वजननयनानन्दप्रद गोविन्द कुण्ड विराजमान हैं, उन व्रजेन्द्रनन्दनके विश्राम-स्थान श्रीगोवर्द्धनका आश्रय कौन पण्डित व्यक्ति न करेगा ? ॥२॥

जो गंगा आदि तीर्थोंसे बढ़कर हृदयङ्गम हैं, जो भक्ति, परम कल्याण और कान्ति प्रदान करते हैं, जो श्रीकृष्ण, बलदेव, ब्रह्मा, शिव और अप्सराओंके प्रीतिजनक हैं, जिनके चारों ओर श्रीदानकुण्ड आदि अनेक कुण्ड-समूह-सुशोभित हो रहे हैं और महामान्य मुनिवर श्रीशुकदेव द्वारा जिनकी महिमा विशेष रूपसे गायी गयी है, उन श्रीगोवर्द्धनका आश्रय कौन व्रतपरायण व्यक्ति न करेगा ? ॥३॥

जिनके चारों ओर मनोहर ज्योत्स्ना, मोक्षण, माल्य, हार, सुमनः, गौरी, बलारिध्वज, गन्धर्व आदि सरोवर और निर्झर सुशोभित हो रहे हैं, जहाँ स्वयं भगवान् गोपाल मूर्त्ति धारण कर विहार करते हैं, जो शृङ्गाररसके सिंहासन स्वरूप हैं तथा जो गो, मृग, पक्षी और वृक्षादि द्वारा अत्यन्त मनोहर होकर श्रीकृष्णके आश्रय स्थान हैं, उन गोवर्द्धनका कौन व्यक्ति आश्रय न लेगा ? ॥४॥

जो श्रीकृष्णके चरणकमलोंसे उत्पन्न अरिष्टकुण्ड अर्थात् श्यामकुण्ड एवं अमूल्य मणि स्वरूप श्रीराधाकुण्डको—जो करोड़ों गंगाकी अपेक्षा भी अधिक श्रेष्ठ हैं—भक्तिपूर्वक सिर झुका कर धारण करते हुए श्रीमन्महादेवसे भी अधिक माननीय हो रहे हैं और जो श्रीकृष्णके सर्वदा अनुग्रह पात्र होनेके कारण भक्तजनोंके अतिशय बन्दनीय हो रहे हैं, उन गोवर्द्धनका संसारका कौन सा व्यक्ति आश्रय न करेगा ? ॥५॥

जहाँ श्रीकृष्णने नाविक बन कर परम रसवती श्रीमती राधिकाको नौकामें बैठा कर तरंगोंसे पूर्ण बीचों-बीच जलमें ले जाकर नौकाके हिलने डुलनेसे भयातुरा श्रीमती राधिका द्वारा स्तुत होकर अपनी मनोभीष्ट उतराई वसूल की थी, वे मानसगंगा जिस स्थानमें सदा-सर्वदा प्रवाहित होती हैं एवं जो नव-

दम्पति अर्थात् श्रीराधा-कृष्णके मध्यस्थ-स्वरूप हैं, उन श्रीगोवर्द्धनका कौन पुण्यवान व्यक्ति आश्रय न करेगा ? ॥६॥

जहाँ रास क्रीड़ामें सैकड़ों लक्ष्मीके वन्दनीय अति रमणीय सखियोंसे परिवेष्टित और श्रीकृष्णके रसमय सौरभ-शोभित बाहुओंसे घिरी हुई गलेवाली माधव-प्रिया श्रीमती राधिकाने मधुमासमें नृत्य किया था, इसीलिये आज भी जहाँ द्वितीय रासस्थली विराजमान है, हे—भक्तगण ! ऐसे अत्युन्नत उन गोवर्द्धनका का भला कौन व्यक्ति आश्रय नहीं करेगा ? ॥७॥

जहाँ अपने-अपने विक्रमपूर्ण वचनों द्वारा प्रसन्न-चित्त और पुनः-पुनः इषत् हास्य एवं कुटिलतर कटाक्ष-चालनरूप बाण-वर्षण द्वारा परस्पर विद्ध हुए श्रीराधाकृष्ण अपने नये-नये दानोंके लिये वाक्कलह परिवर्द्धित कर रहे हैं तथा जहाँ इस प्रकार श्रीराधा-कृष्णके नव-नव लीलासूचक विलास समूह परिपूर्ण हैं, उन गोवर्द्धनका भला कौन व्यक्ति आश्रय नहीं करेगा ? ॥८॥

जहाँ श्रीकृष्णने श्रीदाम आदि वयस्यगण तथा बलदेवके साथ गोचारण करते-करते "री, री"—इस प्रकार मधुर स्वरमें गान किया था और जिनकी निर्जन गुहाओंमें रंगस्थली निर्माण कर श्रीराधिकाके साथ कन्दर्पकेलि की थी, इस प्रकार सौभाग्यशाली उन गोवर्द्धनका भला, कौन व्यक्ति आश्रय न करेगा ? ॥९॥

श्रीकृष्णने रवितनया कालिन्दीको, अतिशय ऊँचे पर्वतोंको तथा व्रजवासियोंके आश्रयीभूत और मनोरथपूर्ण करनेवाले नन्दीश्वरको त्यागकर, वृन्दावन की रक्षाके लिये पर्वतोंके शिरोमणि स्वरूप जिनको अर्चन कर सम्मान प्रदान किया था, उन गिरिराज गोवर्द्धनका भला कौन व्यक्ति आश्रय न करेगा ? ॥१०॥

जिनकी कृपासे मेरे समान जीर्णान्ध व्यक्तिके मुखसे भी यह रमणीय गोवर्द्धन-वासप्रद गिरिराज गोवर्द्धनका दशक प्रादुर्भूत हुआ है, वह परमोन्नत एवं उत्कर्षशील रत्न मेरे जीवन सर्वस्व श्रीगुरुदेव—श्रीरूपगोस्वामीको संतोष प्रदान करनेमें समर्थ हो—मेरी यही प्रार्थना है ॥११॥

श्रीरामानुजाचार्य

पाश्चात्य दार्शनिक पंडितोंका यह मत है कि कालकी गतिके अनुसार धर्मजगतमें मनुष्यकी मनोगत अनुभूतिका परिवर्तन और उनके व्यवहारका वैषम्य अवश्यंभावी है । देवासुर-संग्राममें, ब्रह्मावर्त्तमें ऋषियोंके ईश्वर-अनुशीलन कालमें, ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्य और शूद्रादि वर्णसमूहके अपने-अपने वर्णाश्रम धर्म पालनके समयमें, वेण आदि अवैदिक राजाओंके कालमें, नाना प्रकारके दर्शन-शास्त्रोंके आविर्भावकाल-में, गौतमबुद्धके समय, प्रच्छन्न मायावादके प्रचारके समयमें एवं भक्तिवादकी परमोपादेयता उपलब्धिके कालमें भारतीय धर्म जगतके विभिन्न प्रकारके अनुभव और व्यवहारगत पार्थक्यका उल्लेख हम इतिहास और पुराणमें देख पाते हैं ।

जैसे एक ओर आधुनिक उन्नतिवादी विचारकों-का युक्तिबल है, पक्षान्तरमें वैसे ही शास्त्रके प्रति सरल, परन्तु दृढ़ विश्वास रखनेवालोंकी अटल धारणा भी है । सृष्टिके प्रारम्भमें ऋषि, देवता और असुर तीनों अपनेको काश्यप जानकर ब्रह्मेश्वर विष्णु-की उपासना करते थे, उन्हींके वंशज ब्राह्मण-कालके प्रभावके अनुसार सूर्यवंशी और चन्द्रवंशी राजाओंके समय ईश्वर-उपासनकी ओर अग्रसर हुए । धीरे-धीरे वह ईश्वरोपासना कहीं-कहीं लक्ष्यभ्रष्ट ज्ञानके रूपमें

बढ़ गयी। लक्ष्यभ्रष्ट केवल-ज्ञानानुशीलन धीरे-धीरे ईश्वरसे हट कर निरीश्वर ज्ञानकी ओर झुका और कपिल आदि मतोंकी सृष्टि हुई।

पहले यज्ञादि कर्मों द्वारा विष्णुकी सेवा होती थी। जब उद्दिष्ट विष्णुकी अपेक्षा यज्ञ आदि कर्मोंकी उपादेयता अधिक फलप्रद समझी गयी, तब ज्ञानने ऐसे विकर्मोंकी प्रधानताका खण्डन कर कर्मको दबाया। यद्यपि ज्ञानने कर्मको दबाकर अपनी प्रधानता स्थापित की, फिर भी वह ज्ञान उद्दिष्ट वस्तु परमेश्वरसे कुछ स्वतन्त्र होनेके कारण अज्ञानकी ही श्रेणीमें रहा। ऐसे अज्ञानको दबाना आवश्यक था। अतः इसके लिये उद्दिष्ट वस्तु—भगवानमें प्रीतिके प्रचारकी आवश्यकता हुई।

अनादिकालसे ही जीवके हृदयमें प्रीति-मार्ग विद्यमान है वह प्रीति कभी कर्म या ज्ञान आश्रय कर उदित होती है, कभी स्वतन्त्र रूपसे भगवत प्रार्थना आदि द्वारा प्रकाशित होती है। कर्म और ज्ञानकी भाँति भगवत् प्रीतिका कोई निश्चित काल नहीं। वह तो जीवमात्रकी स्वाभाविक और सार्वकालिक वृत्ति है। फिर भी दुर्बल जीवोंके कल्याणके लिये त्रिगुणातीत होकर भी वह ज्ञान-कर्मकी भाँति एक मार्गकी भाँति दिखलायी पड़ती है। इस पर कालका कोई प्रभाव नहीं होता। अतः वह सभी अवस्थाओंमें सभी कालोंमें, सर्वत्र अपरिवर्तित होती है। ज्ञान और कर्मकी तरह कालके प्रवाहमें उसका कोई परिवर्तन नहीं होता।

अनादि कालसे धर्म राज्यमें कर्म, ज्ञान और भक्ति चली आ रही है। परन्तु कालके प्रभावसे किसी समय, किसी देशमें इनमेंसे किसी एकका प्राबल्य दिखलायी पड़ता है। सूक्ष्म रूपसे विचार करनेसे पता चलता है कि जिस समय भारतवर्षमें दर्शनशास्त्रका अनुशीलन अपनी चरमसीमाको स्पर्श कर रहा था, उस समय जिन लोगोंने केवल ज्ञानको उपाय बनाकर उपेय स्वरूप परमतत्त्वको प्राप्त करना चाहा था, उनमें से अधिकांश ही मार्गभ्रष्ट हुए हैं। एक ही ज्ञान द्वारा ब्रह्म दो भागोंमें उपलब्ध हुए हैं।

निष्कपट निर्विशेषवादीके ब्रह्मकी चरम सीमा कपिलके अव्यक्त तक ही सीमित है। इस अवस्थाका परिचय देनेके समय ही वे कपटताका आश्रय ग्रहण करनेके लिये बाध्य हुए हैं अर्थात् "निर्विशेष-ब्रह्म"-शब्दका प्रयोग करने पर भी विशेषवादीकी पदरेणुको आज्ञात रूपमें अपनी सम्पत्तिके रूपमें ग्रहण किये हैं। केवल, निर्गुण, साक्षी और चेता आदि विशेषणों द्वारा तद्वस्तुको अतत्से पृथक् करने जाकर कपटताका अवलम्बन किये हैं।

निर्विशेषवाद सांख्यके पौरुषभावका किंचित अंश प्रकृतिमें अलक्षित रूपमें आरोप कर खड़ा है। वास्तव में उनके पुरुषका परिचय अधिकांश रूपमें अविद्या और माया आदि शब्दोंकी आड़में ही दिया गया है। यथार्थतः वेदानुग वेदान्तमत और कपट निर्विशेषवादियोंका वेदान्तमत पृथक्-पृथक् हैं। विशेषवादी ब्रह्ममें सब प्रकारकी विशेषता स्वीकार करते हैं। ब्रह्मकी भाँति ब्रह्मवस्तुके विशेष भी नित्य हैं, वे काल्पनिक अथवा रूपक मात्र नहीं हैं। ब्रह्मवादी वस्तुतः सविशेषवादी हैं; परन्तु उनमें से किसी-किसीने उच्छृंखल होकर अपनेको निर्विशेषवादी बतलाकर कपिलके शून्यवाद या बौद्धवादके साथ सामंजस्य करने की चेष्टा की है। सांख्यके पुरुष और प्रकृतिके मिलनसे जगत्की सृष्टि आदि माननेवाले कपिलके मतानुयायीगण निर्विशेष ब्रह्मवादीकी भाँति ब्रह्ममें दोषकी आशंका कर विशेषको भी मलयुक्त मानते हैं। उनके विचारसे विशेष धर्म ही मल द्वारा बना है। "कपिल मतके अंकुरसे ही वैदान्तिक निर्विशेषवादका जन्म हुआ है। ज्ञान और कर्मके अन्तरालमें पातंजल दर्शनकी उत्पत्ति हुई है। विपरीत गतिसे कर्माश्रय करनेसे ज्ञानवादियोंका ऐसा ही भाव होता है।

वैशेषिक और न्यायके मतानुसार देही और ईश्वर स्वीकृत हैं। परन्तु वैशेषिकका देही निष्कपट-निर्विशेषवादीके ब्रह्मके समान है। गौतमका ईश्वर और कपट निर्विशेषवादीका ब्रह्म जिस प्रकार चार भूषणोंसे भूषित हैं, उसी प्रकार वे दूसरे कुछ विशेषों से भी सम्पन्न हैं। जैमिनीका दर्शन ज्ञानानुशीलनके

पूर्वसे ही वर्त्तमान है। यस्तुतः फलदातृत्व ही प्रधान कार्यकारिता है। इसलिये सत्कर्म अनुशीलन और उसके भोगकी चेष्टा ही जैव-जगतकी क्रिया है। जैमिनी-दर्शनके कर्मफलवादको दूसरे-दूसरे दार्शनिकों ने भी स्वीकार किया है, परन्तु इस फलप्राप्तिका भी विराम है, इसके लिये भी व्यवस्था है।

इस प्रकार ज्ञानकी महाधारामें विभिन्न प्रकारकी चिन्ताधाराएँ भारतमें एक ही समय प्रबल रूपमें प्रवाहित होनेके कारण मूल उद्देश्य दूर हट गया तथा केवल शुष्क पाण्डित्य और व्यर्थके अहंकारने उनका स्थान ले लिया। पाण्डित्यका फल यह हुआ कि जीव-ईश-विमुख होने लगे। इस दुर्दिनमें मायावादियोंने भारतमें कहीं-कहीं बौद्धवादके, कहीं-कहीं शांकरवादके कहीं-कहीं योगानुशीलनके, कहीं कुमारिलके कर्मवादके, कहीं पाशुपतोंकी विचित्र उपासनाके, कहीं पंचोपासनाके, कहीं उपासकके हितके लिये काल्पनिक मूर्त्ति की पूजाके, अतिशय घृणित तंत्रादिकी साधनाके और कहीं भगवान्‌की लीलाको रूपक होनेके प्रचारका प्रयास किया। वास्तवमें उस समय भक्तिका माहात्म्य इतना संकीर्ण हो रहा था कि ज्ञानरूप परिच्छेदसे आवृत माया भक्तिको निगलनेको मुख बाये खड़ी थी। भक्ति-विरोधी सारे मतवाद न्यूनाधिक रूपमें मायावादी हैं। इन मूढ़ मायावादियोंको विपदसे उद्धार करनेके लिये परम मंगलमय भगवान्‌ने अपनी संकर्षण-शक्तिको मायावादाच्छन्न देशमें भेजा। भगवत्कृपा द्वारा भेजे गये उस संकर्षण-शक्ति रूप महात्मा का नाम ही "श्रीरामानुजाचार्य" है।

श्रीरामानुजाचार्यकी ईश्वरीय शक्तिके प्रभावसे ही आज भारतमें भगवानकी प्रधानता दिखलायी पड़ती है। मायाधीशको भी मायावादियोंने मायाधीन बतलानेकी धृष्टताकी है। जिनकी असीम शक्तिके प्रभावसे मायावाद-दानव खण्डित-विखण्डित होकर मृतप्राय हो गया, जिनकी अनिर्वचनीय शास्त्र-मीमांसा के प्रहारसे काल्पनिक मायावादका गजदन्त उखड़ गया और जिनके शक्ति और शक्तिमत्तत्वके विचारको सुनकर प्रधान-प्रधान मायावादी आचार्य भी अपना दुर्भाग्य मानते हैं, उन्हीं श्रीरामानुजसे ही इस दुस्सहनीय कलिकालमें श्रीवैष्णवजन जो कितने उपकृत हुए हैं, वह लेखनीके वर्णनातीत है। भारत-गगनको मायावाद रूपी अन्धकारसे मुक्त करनेमें श्रीरामानुज के समान परमबन्धु वैष्णवजनोंका कोई दूसरा नहीं है—ऐसा कहा जा सकता है। "श्रीगौड़ीय सम्प्रदाय के आदि आचार्य श्रीमध्वमुनिने इन महात्माको 'शिष्टगणाग्रगण्य' भूषणसे अलंकृत किया है।" भगवानकी संकर्षण शक्तिको छोड़कर परब्रह्मको धारण करने और मूढ़ मायावादियोंको समझानेमें कौन समर्थ हो सकता था? श्रीरामानुजका आविर्भाव आज भारत में जीवके पारमार्थिक धर्मके विकृत होनेके मार्गमें बाधक सिद्ध हुआ है। मायावादियोंके दौरात्म्यके कारण भगवद्भजन या भक्ति जिस प्रकार शुष्कप्राय हो चली थी, उसमें रामानुज-मेघद्वारा शीतल वारिका सिंचन न होनेपर आज केवल कपटी मायावादियोंके मुखसे कपट भक्तिका माहात्म्य सुनकर श्रीवैष्णवजन कितने दुःखी होते, यह सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है। वैष्णवाचार्य श्रीरामानुज स्वामीका चरित्र वैष्णवजनके लिये परम उपादेय और सर्वदा स्मरणीय है।

पुण्यभूमि भारतवर्ष विन्ध्यपर्वत श्रेणी द्वारा दो भागोंमें विभक्त है। उत्तर भाग आर्यावर्त्त और दक्षिण भाग दाक्षिणात्यके नामसे प्रख्यात हैं। बौद्ध विप्लवके कुछ समय पहले ही आर्यावर्त साधारणतः पंचगौड़के रूपमें पाँच भागोंमें विभक्त हो चुका था। उसी प्रकार दाक्षिणात्य भी पंचद्रविड़के रूपमें पाँच भागोंमें विभक्त हो चुका था आर्यावर्तके पाँचों प्रदेशों के ब्राह्मण अपने-अपने प्रदेशके ब्राह्मणोंके साथ सामाजिक व्यवहारमें बँध गये थे। उसी प्रकार दक्षिणमें भी पाँच प्रकार के ब्राह्मण समाज गये। ये समाज आज भी उसी रूप में पाये जाते हैं। श्रीरामानुजाचार्यने दक्षिणमें जन्म ग्रहण किया था। जिस प्रकार आर्यावर्तके ब्राह्मण अपनेको गौड़ीय ब्राह्मण कहते हैं, उसी प्रकार दक्षिणके ब्राह्मण भी अपने को द्राविड़ीय ब्राह्मण कहते हैं। श्रीरामानुजके

पूर्वज द्राविड़ीय शाखाके अन्तर्गत ब्राह्मण हैं। गुर्जर, महाराष्ट्र, कर्नाट, आन्ध्र और तैलङ्ग या द्रविड़—ये पाँच प्रदेश पंच-द्रविड़ हैं। श्रीरामानुजका जन्म तैलङ्ग प्रदेशमें हुआ था। तैलङ्ग प्रदेशका दूसरा नाम ही मूल-द्रविड़ है। मूल-द्रविड़ अर्थात् तैलङ्ग प्रदेशके दक्षिण में अन्ध्रप्रदेश है। चोल और पाण्ड्य वंशी राजाओंका वर्णन पुराणमें भविष्यद्भूपालोंके अन्तर्गत अन्ध्रभृत्यके रूपमें पाया जाता है।

धर्मशास्त्रके रचयिता हारीतके वंशमें केशवाचार्य नामक एक द्राविड़ ब्राह्मण तौण्डीर मण्डलस्थ पूर्व समुद्रके २४ मील पश्चिममें भूतपूरी नामक एक ग्राम में १० शकाब्दके प्रारम्भमें निवास करते थे। केशव की पत्निका नाम कान्तिमति था। दोनोंही सदाचार सम्पन्न और नाना प्रकारके गुणोंसे विभूषित थे। परन्तु उनकी कोई संतान न थी। इसलिये पुत्रकी कामनासे वे प्रतिदिन नियम पूर्वक समुद्र स्नान कर भगवान पार्थ सारथिकी उपासना करने लगे। भगवान पार्थसारथिने प्रसन्न होकर उनकी मनोभिलाषा पूर्ण की। "कान्तिमति गर्भवती हुई और समयानुसार उनके गर्भसे भूतपूरी ग्राममें ९३८ शकाब्दमें बृहस्पति-वारको चैत्रशुक्ला पंचमी तिथिमें आर्द्रासे नक्षत्रमें दिनके दो पहरके समय श्रीरामानुजने जन्म लिया।" किसी-किसीके मतानुसार श्रीरामानुजका आविर्भाव मद्राससे २६ मील पश्चिम श्रीपरमबतुरनामक ग्राममें ईशाकी १२ वीं शताब्दीके मध्यमें हुआ था। श्रीरा-मानुजके जन्मकालका वर्णन निम्नलिखित श्लोकमें पाया जाता है।

> यस्मिन् क्षणे भुवि पदं व्यदधात् स बाल।
> तस्मिन् क्षणे कलिवदः सहमाविवित्तस्थे॥
> पापः पलायनपरः सहसा पृथिव्यां।
> धर्मो बभूव भववान् स्वपदैश्चतुर्भिः॥

श्रीरामानुजके जन्मसे केशवाचार्यके आनन्दकी सीमा न रही। उन्होंने बालकके जातकर्म संस्कार महोत्सवमें अपने समस्त आत्मीय-स्वजनोंको बुलाया और उनको सन्तुष्ट किया। समयानुसार उन्होंने बालकको क्रमशः अन्न प्राशन, चौल और मौंजी बन्धन आदि और अन्तमें आठवें वर्षमें यज्ञसूत्र संस्कार किया। ब्राह्मणोचित क्रिया-कलाप शिक्षा और अध्ययन आदि आर्यमें रामानुजके पिताने कोई शिथिलता न आने दी।

श्रीरामानुजने अपना बालकपन खेल-कूदमें और किशोरावस्था विद्या अध्ययनमें बिताया। किशोरा-वस्था बीतने पर माता-पिताने श्रीरामानुज का विवाह कर दिया। रामानुजके विवाहके कुछ दिनोंके बाद ही केशवाचार्यने अपना लौकिक शरीर परित्याग कर दिया। श्रीमान् रामानुज भी पिताकी पारलौकिक वैदिक क्रियाओंको सम्पन्न किया। पिताके परलोक गमनके पश्चात् कुछ दिनोंतक रामानुज अपनी पत्नि को साथ लेकर अपनी विधवा बहनके पास रहे। इन्हीं दिनों महात्मा श्रीरामानुजको शास्त्राध्ययनकी तीव्र इच्छा हुई। उस समय श्रीकांचीपुरमें श्रीमादवा-चार्य वेदान्तशास्त्रके पारदर्शी एवं प्रख्यात् अध्यापक रहते थे। यादवाचार्य की प्रशंसा सुनकर श्रीरामनुज ने श्रीकांचीपुरमें उनके पास रह कर वेदान्त पाठ प्रारम्भ किया। भूतपुरी कांचीपुरीके निकट ही स्थित है। कांचीपुरी मोक्षदायिका सप्तपुरियोंमेंसे एक है। कांजीका वर्तमान कंजिभरम है। यह प्रसिद्ध नगर मद्राससे पश्चिमकी ओर २४ मीलके भीतर ही है। चोल राजाओंके राज्यकालमें कांजीपल्ली विद्याशिक्षा-का केन्द्र, सरस्वती पूजाका पीठ और दाक्षिणात्यका एक प्रसिद्ध नगर था। उस समय आर्यावर्तसे भी ब्राह्मण छात्र विद्याध्ययनके लिये आते थे। आज भी कांजीवासी संस्कृत भाषा और आचार्यके आचारोंको बड़ी श्रद्धाकी दृष्टिसे देखते हैं।

श्रीरामानुजने कांजीसे यादवाचार्यके पास रह कर विधिपूर्वक वेदान्तका अध्ययन किया। साथ ही गुरुकी सेवा-शुश्रूषा भी की इसी समय कांजीनरेशकी कन्याको ब्रह्म-राक्षसने पकड़ लिया। राजाने समस्त प्रकार की चिकित्सा आदि किये, परन्तु कोई फल नहीं

हुआ । ब्रह्म-राक्षसने राजकन्याको किसी प्रकार भी नहीं छोड़ा । अन्तमें राजाने प्रसिद्ध मन्त्र ज्ञाता यादवाचार्यको बुलाया । यादवाचार्य अपने शिष्योंको साथ लेकर राज भवनमें पहुँचे । रामानुज भी गुरुके साथ थे । यादवाचार्यने राजाकी प्रार्थनानुसार मन्त्र द्वारा राजकुमारीका भूत छोड़नेके लिये बड़े प्रयत्न किये, परन्तु ब्रह्मराक्षसका राजकुमारीको छोड़ना तो दूर रहे, वह यादवाचार्यका तिरस्कार करने लगा तथा भाँति-भाँतिके डर दिखलाने लगा । यादवाचार्य डर गये और मन्त्रोच्चारण बन्द कर दिये, तब ब्रह्म-राक्षसने यादवाचार्यके पूर्वजन्मका वृत्तान्त कहना आरम्भ किया और अन्तमें अपनी अधोगतिका कारण बतला कर अपने उद्धारके लिये उनके शिष्य रामानुजके चरणोदकके लिये प्रार्थना की । ब्रह्मराक्षस-की प्रार्थनाके अनुसार श्रीरामानुजने राजकुमारीको आश्रय किये हुए नीच योनियोंमें पड़े हुए ब्रह्मराक्षसको अपना चरणामृत देकर उसे प्रेतयोनिसे उद्धार किया ।

इस घटनासे श्रीरामानुजकी प्रतिष्ठा बढ़ गयी, साथ ही यादवाचार्यके हृदयमें अपने शिष्य रामानुज-के प्रति विद्वेषकी आग भड़क उठी । अब यादवाचार्य रामानुजको स्नेह करनेके बदले अपना प्रधान प्रतिद्वन्द्वी मान कर सब समय उनके अनिष्टकी चिन्ता करने लगे ।

यादवाचार्यका विद्वेष तीव्रसे तीव्रतर होता गया । रामानुजने बड़े धैर्यसे काम लिया, परन्तु वहाँ वास कर अहितकर सोच कर अपने घर लौट आये एवं अपने घर ही वेदान्तका गंभीर अध्ययन करने लगे । कुछ ही दिनोंमें वे एक उच्चकोटिके वैदान्तिक माने जाने लगे । इतना, होने पर भी रामानुज अपने गुरु यादवाचार्यके पास जाते रहते थे और वेदान्त आदि शास्त्रोंका श्रवण किया करते थे । मायावादी यादव रामानुजके अन्तःकरणको ठेस पहुँचानेके लिये श्रुतियोंका कदर्थ कर श्रवण कराते थे ।

एक दिन सवेरे श्रीरामानुज गुरुदेव यादवाचार्य-की सेवा कर रहे थे । इसी समय यादवाचार्यके समीप एक विद्यार्थीने छान्दोग्योपनिषद्के 'तस्य यथा कप्यासं पुण्डरीकमेवमक्षिणी' (५-६-७) मन्त्रके "कप्यासं"—शब्दका अर्थ पूछा । यादवाचार्यने अपने पूर्वाचार्य श्रीशङ्कराचार्यकी व्याख्याके अनुसार 'कप्यासं' पदका अर्थ—कपि (बन्दर) का आसन अर्थात् बन्दर-की पिछाड़ी (टट्टी आनेका स्थान) किया । 'कप्यासं' शब्दका यह अर्थ स्वीकार करनेसे उक्त श्रुतिमंत्रका तात्पर्य यह होता है कि—'उस हिरण्यमय पुरुषके दोनों नेत्र बन्दरकी पिछाड़ीकी तरह लाल कमलके समान हैं ।' इस अर्थको सुनकर रामानुज बड़े दुःखी हुए । उनकी आँखोंसे गरम-गरम आँसुओंकी धारा बहने लगी । यादवाचार्यने उनसे रोनेका कारण पूछा । रामानुजने कहा—आपने 'कप्यासं'-शब्दका जो अर्थ बताकर इस श्रुतिमन्त्रकी व्याख्या की है, उससे मेरे हृदयमें भयङ्कर चोट लगी है । पुण्डरीकाक्ष श्रीविष्णु भगवान्के नेत्रोंकी लालिमाकी तुलना बंदर-के निम्नभागसे देना चरम सीमाके अपराधका परि-चायक है ।

रामानुजकी बात सुनकर यादवाचार्यने बिगड़ कर कहा—'मूर्ख ! तुम आचार्य शङ्करकी व्याख्यामें दोष दिखला रहे हो ? तुम्हारा इतना साहस ? यदि तुममें सामर्थ्य हो, तो इससे अच्छी दूसरी व्याख्या करके दिखलाओ तो सही ।' रामानुजने 'कप्यासं'-पदका अर्थ बन्दरका निम्नभाग न करके इस प्रकार लगाया—'कं जलं पिबति इति कपिः सूर्यः और अस् धातुका अर्थ विकसित लगाया । इस प्रकार कप्यासंका अर्थ हुआ—'सूर्य विकसित' । अब श्रुतिके मन्त्रांशका अर्थ इस प्रकार हुआ—'श्रीविष्णुके नेत्र-युगल सूर्य द्वारा विकसित कमलके समान है ।' इस प्रकार अर्थ सुन कर यादवाचार्य बड़े विस्मित हुए और मन-ही-मन विचार किया कि यह कोई असाधारण बालक प्रतीत होता है । यदि इसे अभी किसी प्रकार मार न डाला गया तो आगे चल कर यह हमारे सम्प्रदायका भीषण शत्रु निकलेगा तथा आचार्य शङ्करके मतको सम्पूर्ण रूपसे चूर्ण-विचूर्ण कर देगा । परन्तु ऊपर ऐसे बोले—'तुमने जो अर्थ किया है, वह मुख्यार्थ नहीं, गौणार्थ है ।'

और एक दिनकी बात है। यादवाचार्य अपनी शिष्य मण्डलीको आचार्य शङ्करके भाष्यके अनुसार तैत्तिरीयोपनिषद्के "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" (आनन्द-वल्ली २) की व्याख्या सुना रहे थे। वे इस मन्त्र द्वारा भी निर्विशेष ब्रह्मकी स्थापना करनेका प्रयास कर रहे थे। परन्तु श्रीरामानुजसे यह सहा नहीं गया; उन्होंने इस मन्त्र द्वारा निर्विशेष ब्रह्मका खण्डन कर सविशेष ब्रह्मकी स्थापना कर दी। इस प्रकार अपने शिष्यसे बार-बार अपमानित होकर तथा अपने सम्प्रदायका भावी शत्रु समझ कर यादवाचार्यने अपने दूसरे शिष्योंसे मिलकर रामानुजका वध करनेके लिये एक षड्यन्त्र रचा। स्थिर हुआ कि रामानुजको अपने साथ प्रयागमें त्रिवेणीमें स्नानके लिये ले जाय और वहीं पर युतसलीला नदीके गर्भमें उनको डुबा दिया जाय। इस प्रकार वहाँ मरनेसे ब्रह्महत्याका पाप भी नहीं लगेगा तथा उनका कार्य सिद्ध हो जायगा।

श्रीरामानुजके मामाका नाम शैलपूर्ण था। कान्तिमतिकी छोटी बहन द्युतिमतीका विवाह पद्मलोचन भट्टसे हुआ था। रामानुजकी एक बहिन भी थी जिसका नाम लक्ष्मी था। लक्ष्मीका विवाह अनन्त दीक्षितके साथ हुआ था। अनन्तदीक्षितके दो पत्नियाँ थीं। बड़ीका नाम 'महादेवी' था और छोटी श्रीरामानुजकी बहिन 'लक्ष्मी' थी। पद्मलोचनके पुत्रका नाम गोविन्द था। इस प्रकार गोविन्द रामानुजकी मौसीके पुत्र हुए अर्थात् मौसेरे भाई हुए। श्रीरामानुजका पाण्डित्य, उनकी प्रखर प्रतिभा एवं राजकुमारीको ब्रह्म-राक्षसके हाथसे मुक्त करना आदि उनके अलौकिक चरित्रको देखकर गोविन्द रामानुजको आन्तरिक श्रद्धा करते थे। वे अपनी मातासे आज्ञा लेकर कांजीमें रहकर श्रीरामानुजके साथ यादवाचार्यके निकट वेदान्तका अध्ययन करने लगे। यादवके यहाँसे रामानुजके चले जाने पर भी गोविन्द यादवके निकट ही वेदाध्ययन करते रहे। इसी समय रामानुजको वध करनेका षड्यन्त्र रचा गया। गोविन्दको किसी प्रकार इस षड्यन्त्रका पता लग गया। उन्होंने उपयुक्त समयपर इस षड्यन्त्रकी बात बतला देनेकी सोची।

एक दिन यादव अपना मतलब सिद्ध करनेके लिये रामानुजके घर पर उपस्थित होकर नम्रतापूर्वक बोले—'वत्स रामानुज! तुम आजकल मेरे पास क्यों नहीं पढ़नेके लिये आते? तुम्हारे समान बुद्धिमान एवं सच्चा शिष्य मेरा दूसरा नहीं है। तुम्हारी अनुपस्थितिसे मुझे बड़ा दुःख होता है। मैं दूसरे सभी छात्रोंसे बढ़कर तुम्हें प्यार करता हूँ। मेरी उपेक्षा करनी ही क्या मेरे प्यारका प्रतिदान है?' यादवके स्नेहभरे वचनोंको सुनकर रामानुजने पहलेकी भाँति पुनः उनके निकट अध्ययन करना आरम्भ किया।

दुष्ट यादवने अपने षड्यन्त्रको सफल बनानेके लिये रामानुजके निकट त्रिवेणी स्नानके लिये प्रयाग चलनेका प्रस्ताव रक्खा। यादवके प्रस्तावके अनुसार श्रीरामानुज अपनी मातासे आज्ञा लेकर यादव और शिष्यमण्डलीके साथ प्रयागके लिये चल पड़े। रास्तेमें विन्ध्याचलके निकट उनके मौसेरे भाई गोविन्दने सुयोग देखकर रामानुजसे यादवाचार्यके षड्यन्त्रकी बात बतला दी तथा उनको मण्डलीका साथ छोड़ कर भाग जानेकी सलाह दी। रामानुज गोविन्दके परामर्शके अनुसार सीधे मार्गको छोड़ कर पगडंडियों, खाई-खन्दकों आदिको पार कर भागे। कुछ दूर चलनेके पश्चात् थक कर एक पेड़के नीचे विश्राम करने लगे। उस समय मूसलाधार वर्षा हो रही थी। वर्षाकी अधिकतासे रास्ता दिखायी नहीं पड़ता था। यादव और उनके साथी बड़ी मुसीबतमें फँसे।

इधर गोविन्द अकेले गुरुके समीप लौटे। उनको अकेले देख कर यादवाचार्यने पूछा—'रामानुज कहाँ है?'

गोविन्दने उत्तर दिया—'वे तो मुझसे पहले ही यहाँ चले आये हैं।'

गोविन्दकी बात सुन कर यादवाचार्यने अपने शिष्योंको भेज कर रामानुजको इधर-उधर खूब ढूंढ़ा; परन्तु कहीं भी पता न चला अब यादवाचार्यको यह

निश्चय हो गया कि रामानुजको जङ्गली जानवरोंने खा डाला है। ऐसा स्थिर करके वे बिलकुल निश्चिंत हो गये।

इधर श्रीरामानुज पेड़के नीचे बैठे-बैठे भगवान्‌के शरणागत हुए। थोड़ी ही देर बाद उन्हें एक व्याध और उसकी स्त्री दिखलायी पड़ी। वे दोनों गम्भीर वनमें जा रहे थे। उन दोनोंके साथ रामानुजकी बातें हुईं। रामानुज भी उन दोनोंके साथ बातचीत करते चल पड़े। कुछ दूर जाने पर शाम हो गयी। अब आगे चलना खतरनाक समझ कर वे तीनों एक पेड़के नीचे ठहर गये। कुछ देरके पश्चात् व्याधपत्नीको बड़ी प्यास लगी। उसने अपने पतिसे कहींसे पानी लानेके लिये बार-बार अनुरोध किया। उन लोगोंकी बात सुन कर श्रीरामानुज रातमें ही जल लानेको तैयार हो गये। परन्तु बहेलियेके कहनेसे रातको रुक गये और सबेरे पानी लानेके लिये प्रतिज्ञा की। प्रातःकाल होनेके साथ-साथ बहेलियेने रामानुजको निकट ही एक कुँआ दिखलाकर पानी लानेके लिये कहा। रामानुजने उस कुँएमेंसे अञ्जलिसे तीन बार पानी उठा कर उनको पिलाया। चौथी बार जब कुँएसे अञ्जलि भर कर पानी उठाया, तो वे दोनों कहीं भी दिखलायी न पड़े और घोर जङ्गलके बदले निकटमें ही एक बस्ती और लोगोंकी चहल-पहल दीख पड़ी लोगोंसे पूछने पर उनको यह जान कर अत्यन्त आश्चर्य हुआ कि वे अपनी मनोकामनाके अनुसार सत्यव्रत क्षेत्र (काञ्चीपुरी) में उपस्थित हैं। वे तुरन्त ही अपनी माताके चरणकमलोंमें उपस्थित हुए और उनको प्रणाम कर आदिसे अन्त तक सारी घटना बतलाये। बुद्धिमती जननीके परामर्शसे रामानुजने यह सारा वृतांत कांचीपुर निवासी परम भक्त शूद्र शबर जातीय कांचीपूर्ण बतलाया। उन्होंने रामानुजका पूर्ण आत्म वृतांत सुनकर कहा—'तुम बड़े सौभाग्यशाली हो। स्वयं लक्ष्मी और नारायणने ही व्याध दम्पतिके रूपमें तुम्हारी रक्षा की है और तुम्हारा दियाहुआ तीन अञ्जलि जल पान करके तुम्हारी सेवा स्वीकार की है। तुम प्रतिदिन उसी कुँएके जलसे नागाचल स्थित हस्तीगिरिनायक श्रीवरदराजकी सेवा करना।' रामानुज कांचीपूर्णके उपदेशानुसार वरदराजकी सेवा करने लगे। (क्रमशः)

—विष्णुपाद श्रीश्रीमद्भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर।

आधुनिकवाद

एक सांप्रदायिक संकीर्ण पथमें भ्रमण करने वाले एक पथिकने अपने संकीर्ण ज्ञानके अहङ्कारमें मत्त होकर पूरी योग्यता प्राप्त करनेके पहले ही धर्मके सम्बन्धमें नवीन उपादेय ग्रहणकी व्यवस्था देनेका राग अलापनेका अभिनय किया है। खेदका विषय है—लेखक महोदयने आचार्य ग्रहणका अभिनय किया है तथा दर्शन शास्त्र व वेदान्तकी आलोचना भी की है। फिर भी धर्म आलोचनाके स्थानपर उनकी आत्मप्रशंसा ही प्रकाशित हुई है। इस प्रकार ज्ञानालोचनाकी आड़में आत्मप्रशंसाकी पुष्टि न करना ही श्रेयस्कार था।

लेखकके इन विचारोंको साधारण जनता ग्रहण करनेमें असमर्थ है। इसका कारण यह है कि अनन्त ज्ञानके समुद्र पतित पावन श्रीमद्गौरचन्द्रने ऐसे अहंकारका अनुमोदन नहीं किया, उनकी आज्ञा है—

"तृणादपि सुनीचेन तरोरपि सहिष्णुना।
अमानिना मानदेन कीर्त्तनीयः सदाहरिः॥"

अस्तु, मैं ऐसी गन्दी एवं घृणित बातोंको लिखकर सज्जन तोषिणीका पवित्र कलेवर अपवित्र नहीं करना चाहता था, परन्तु भ्रान्त आधुनिकवादी विचारोंका जिससे वैष्णवोंके हृदयमें अकारण ही क्लेश पहुँचता है तथा जिससे शुद्ध भक्तिकी धारा

बाधित होती है—खण्डन करना अत्यन्त आवश्यक समझकर ऐसा करनेके लिये बाध्य हुआ हूँ।

विरोधी लेखककी वैष्णव धर्मके प्रति आक्रमण सूचक उक्ति

लेखक की कतिपय पंक्तियाँ नीचे उद्धृत की जा रही हैं—

"ज्ञान आलोचनाके बिना धर्मभाव न तो कभी भी पुष्ट हो सकता है और न कुसंस्कारोंसे अपनी रक्षा ही कर सकता है। प्रेमकी प्रबल बाढ़में जब शान्तिपुर डूबा जा रहा था, उस समय धर्मके क्षेत्रमें पुनः ज्ञानकी कोई आवश्यकता है या नहीं, उसे न समझने पर भी उस क्षेत्रमें जो नेता थे वे यदि आज लौटकर देख पाते कि ज्ञानके अभावमें उनके प्रचारित प्रेमकी दुर्गति किस सीमातक पहुँच रही है, तो वे स्वयं ही ऐसा कहते कि ज्ञानकी उपेक्षा करना हमारी बड़ी भूल थी।"

प्रतिवादी लेखककी तरह ज्ञानीका स्वभाव

लेखक ज्ञान मार्गका दास है। ज्ञानकी चर्चाके अतिरिक्त उसे कोई भी दूसरी चर्चा सुहाती नहीं। विशुद्ध प्रेममें भी ज्ञान रूपी कंकड़को मिलाये बिना उसकी तृप्ति नहीं होती। रुची एक ऐसी ही वस्तु है कि परम ज्ञानके द्वारा प्राप्त होने वाली प्राप्तिको भी उन्होंने ज्ञानके साथ एक समान बतलानेकी धृष्टताकी है। जैसा भी हो यहाँ पर थोड़े ही शब्दोंमें परन्तु स्पष्ट रूपसे उन्हें यह बतलाना उचित है कि ज्ञान किसे कहते हैं? भक्ति किसे कहते हैं? और दोनोंका परस्पर क्या सम्बन्ध है?

भक्ति और ज्ञानका सम्बन्ध पार्थक्य

शक्तिमान और शक्तिके परस्पर सम्बन्ध-ज्ञानको ही पर ज्ञान कहा है; इसे छोड़कर दूसरे प्रकारके ज्ञानको अपर ज्ञान कहा है। दूसरे शब्दोंमें भगवत् तत्व और जीवतत्वको यथार्थरूपमें जानना ही ज्ञान है। ज्ञानकी ज्ञातृत्वके सिवा और कोई गति नहीं है, यहीं पर ज्ञानकी शेष सीमा है। ज्ञानवादी इससे आगे दूर जानेके अधिकारी नहीं है। जो परमेश्वर की अनन्त शक्तिकी एक कण-शक्ति लेकर ज्ञानवादी अहंकाररूप पर्वतके सर्वोच्च शृंगपर आरोहण करते हैं तथा वे उस परमोच्चको बिन्दुप्राप्त करके खद्योत सम लवरूप उपलब्धिरूप आत्मानुभूतिके आनन्दमें विभोर हो जाते हैं ऐसे आत्मज्ञानियोंको भी प्रेमका एक कण प्राप्त करनेके लिये उन्मत्त होते देखा जाता है; इतने पर भी यदि ज्ञानवादी अपनेको प्रेमी भक्तोंके समान मानते हैं तथा दूसरोंको ज्ञान पथ अवलम्बन करनेका परामर्श देते हैं, तो उन्हें दुर्भागा ही समझना चाहिये। ज्ञानवादी केवल सम्बन्ध ज्ञानमें ही अबाद्ध होते हैं। उनका लक्ष प्रयोजन सिद्धि नहीं है। ज्ञानकी सुदृढ़ शृंखलसे जो मुक्त हो जाते हैं, वेही श्रीधर्ममें प्रवेश पानेके अधिकारी हैं।

ज्ञानका चरमफल कर्मक्षय और सम्बन्धज्ञान

मानव जबतक कर्मके गड्ढेमें पड़ा रहता है तब तक उसकी भोगवासना प्रबल रहती है। जिस समय कर्मसे छुटकारा पा लेना ही उसे श्रेयस्कर प्रतीत होता है। ऐसी दशामें जीव आत्मानुशीलनकी ओर धावित होता है। कर्मके आवरणसे उन्मुक्त होने पर जीव ज्ञानके चक्करमें पड़ जाता है। ज्ञानानुशीलन के सिवा दुर्गम कर्म-चक्रसे छुटकारा पानेका कोई उपाय नहीं है। ज्ञानका चरम फल कर्मका विनाश है। कर्म-राहित्य ज्ञानका गौण लभ्य विषय है। ज्ञानानुशीलन अन्तमें सम्बन्ध ज्ञान दिलाकर शान्त हो जाती है। इससे वह और आगे बढ़नेमें असमर्थ होता है।

ज्ञान केवल उपाय है, उपेय नहीं; किन्तु प्रेमभक्ति उपाय व उपेय दोनों है—

ज्ञानप्रेमके अन्तर्गत है।

ज्ञान स्वयं कोई प्राप्य वस्तु नहीं है; बल्कि इसकी सहायतासे अभिष्टकी प्राप्ति होती है। ज्ञान केवल उपाय है, उपेय नहीं। ज्ञान प्राप्त हुआ है—इससे यह नहीं समझना चाहिये कि अभिष्टकी सिद्धि हो गई है; बल्कि उससे केवल यह समझना चाहिये कि

अभिष्ट-सिद्धका मार्ग मात्र ठीक हुआ है। जीवका स्वरूप ज्ञानमय है, इसलिये ज्ञानको एक मुख्य पदार्थ माना गया है, किन्तु ज्ञान मुख्य पदार्थ होने पर भी अभिप्रेत वस्तु नहीं है। ज्ञान-उद्देश्य नहीं है, वह तो कोई और वस्तु है; वह है—भक्ति या प्रेम। भक्ति या प्रेम उपाय होने पर भी वही उपेय भी है। ज्ञानी जिन उपाय रूप ज्ञानकी सहायतासे उपेय वस्तुको प्राप्त करलेने पर कभी भी और ज्ञानालोचना नहीं करेगा, कारण ज्ञानालोचना उसका प्रयोजन नहीं है। जैसे हमारे पास लाख रुपये हैं, यह कहनेसे हमारे पास 'एक कौड़ी, है या 'दो कौड़ी' है--यह कहनेकी आवश्यकता नहीं होती, ज्ञान वादियोंकी सम्पत्ति केवल एक कौड़ी है; इससे अधिक गणना करना उन्होंने सीखा ही नहीं। अस्तु लखपतिकी सम्पत्तिके सम्बन्धमें सोचनेमें असमर्थ होनेसे अबोध शिशुके समान कभी कभी कुवाक्योंका प्रहार भी करते रहते हैं।

क्षुधा आलोचना रूप ज्ञानकी अपेक्षा भक्तिरूप भोजनके द्वारा क्षुधा निवृत्ति कर लेना अधिक श्रेष्ठ है।

ज्ञानानुशीलन परिपक्व होनेसे अभिज्ञता प्राप्त होती है। ज्ञानीकी अभिज्ञता ही प्रेमानुशीलन है। शिशु ज्ञानवादी अपने काँच सदृश ज्ञानको प्रेम चिन्तामणिके समान बतलाने में कुन्ठित नहीं होते। अभिज्ञ भक्तगण यह जानते हैं कि क्षुधाकी निवृत्तिके लिए यदि ज्ञानवादी कहें कि आहारकी आलोचना द्वारा ही कार्य सम्पन्न हो जायगा तो यह नितान्त भ्रम है। जिस समय तक आलोचनाकी अपेक्षा भोजन की प्रवृति कम होती है, उस समय तक "ब्रह्मज्ञान" इत्यादि चर्चा में समय नष्ट करना अच्छा लगता है। ज्ञान अनुशीलन या आलोचना ही यदि केवल धर्म है तथा आलोचना करनेसे ही उनकी इच्छाकी पूर्ति हो सके, तब तो ज्ञानियों और भक्तोंके उद्देश्य सम्पूर्ण स्वतन्त्र। कारीगरका उद्देश्य राज्य प्रसाद निर्माण करना होता है और राजाका उद्देश्य उसमें निवास करना होता है। हलवाईका उद्देश्य मिठाई तैयार करना होता है और क्षुधार्त्त व्यक्तिका उद्देश्य उन्हें भोजन करना होता है। ज्ञानवादी और भक्तोंके उद्देश्य यदि भिन्न-भिन्न हों तो ज्ञानवादियोंसे हमारा अनुरोध है वे भक्तोंके उद्देश्य यदि भिन्न भिन्न हों तो ज्ञानवादियोंसे हमारा अनुरोध है वे भक्तोंके समान समझनेका विचार अवश्यमेव परित्याग करदें।

सकाम भक्त सम्बन्ध ज्ञान प्राप्त करें; किन्तु मायावादी, कर्मी, ज्ञानी और योगियोंकी विषैली शिक्षाएँ ग्रहण न करें।

बुभुक्षु भक्त जैसे भी क्यों न हों, उन्होंने अपने अभीष्ट खाद्यके सम्बन्धमें आवश्यक ज्ञान अवश्यही संग्रह किया है और भोजनके समय मिठाई वालेके पूर्व पुरुष कौन थे, उनकी जाति क्या थी, उसने कब से यह व्यवसाय आरम्भ किया है—यह उसका जातिगत व्यवसाय है या नहीं? इन व्यर्थकी बातोंमें वे नहीं पड़ते और न इसे भोजनका अंग ही मानते हैं। क्षुधा निवारण ही उनका मुख्य उद्देश्य होता है वे निः संशय होकर आहार करते हैं। कारण पूर्व-पूर्व महाजनोंसे उन्होंने आश्वासन प्राप्त किया है, उनके पूर्व पुरुषों (महाजनगणोंने) यह खाद्य ग्रहण किया है और उससे उनकी भूख मिटी है। उन्होंने मायावाद-विभक्षण कर आत्म-विनाश नहीं किया है। केवल ब्रह्मज्ञान, निर्विशेषज्ञान, कपिलका प्रकृति-वाद आदि उनके ग्रहणीय विषय नहीं थे। आत्मज्ञान आत्मानुभूति-शक्ति महत्त्व, शक्ति आदिका सम्बन्ध ज्ञान प्राप्त करनेमें उनकी रुचि होती है। उनका अमृतमय और विषमय खाद्य के सम्बन्धमें विलक्षण जानकारी होती है। फिर भी यदि कोई यह कहे कि भक्तोंको यह जानकारी नहीं है कि अमुक मिठाईमें कितनी चीनी है, कितनी क्या चीजें हैं, किस प्रकार से किसके द्वारा बनी हैं; ऐसा कहना तो एकमात्र मुर्ख ज्ञानवादियोंको ही शोभा दे सकता है।

यदि ज्ञानका साधन कर, भोजन पकाकर, व मोची होकर जूते तैयारी करके उपादेयताका ज्ञान न हो सके, भोजनका सुख प्राप्त न हो तथा जूता तैयारी करनेका फल न हो सके तब तो ज्ञान-साधन, पाक-क्रिया, एवं चर्मकार वृतिके सम्बन्धमें भली प्रकार आलोचना करनेसे क्या जूते पहनने वालेके उद्देश्यकी पूर्ति हो सकेगी या जूते पहने जा सकेंगे ? भक्तको

गौड़ीय वैष्णवजन सर्वशास्त्र पारदर्शी होने पर भी शुष्क ज्ञानकी शिक्षा क्यों नहीं देते ?

श्रीगौड़ीय सम्प्रदायमें सर्वशास्त्र पारदर्शी अनेकों सुपण्डित हैं जो ज्ञानवादियोंको विषतुल्य ब्रह्मैक्य-वाद आत्मविनाशकारी उपदेश देनेमें सब प्रकार समर्थ हैं। किन्तु वे ज्ञानवादीसे अधिक ज्ञानी होने पर भी अहंकार नहीं करते ज्ञानवादियोंके उपकारके लिये आचार्यवर श्रीमद् रूपगोस्वामीने अपने भक्ति रसामृत सिन्धु-ग्रन्थ में भक्तिके सम्बन्धमें लिखा है; उसे पढ़कर ग्रहण करनाही ज्ञानीके लिये मंगल कर है । क्षुधा निवृत्ति ही ज्ञानीकी ज्ञान-चेष्टा है, यदि उसकी पूर्ति ही न हुई तो धर्मका फल ही फिर क्या हुआ ?

> भुक्ति मुक्ति स्पृहा यावत् पिशाची हृदि वर्त्तते ।
> तावद् भक्ति सुखस्यात्र कथमभ्युदयो भवेत् ॥
> अन्याभिलाषिता शून्यं ज्ञान कर्माद्यनावृतं ।
> आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्ति रुत्तमा ॥

जिन्होंने भक्तिको उपादेय समझकर स्वीकार किया उन्होंने ही परमज्ञानके पूर्ण फलको प्राप्त किया है। ज्ञानमय जीवका किसीभी द्वारा उपेय-भक्ति को प्राप्त कर लेनाही कर्त्तव्य है। उपेय निर्दिष्ट हो जाने पर फिरसे उपेय निश्चित करनेकी चेष्टा विकृत मस्तिष्क वाले लोगही करते हैं। भक्तिके अनुष्ठान होने पर भी यदि ज्ञानके सहायताकी आवश्यकता दीखती है, यह समझना चाहिये कि अभी तक भक्ति का उदय नहीं हुआ है।

भक्तिके साथ ब्रह्मज्ञानकी तुलना करनेसे ब्रह्मज्ञान की ही प्रशंसा होती है; किन्तु भक्ति ज्ञान की अपेक्षा अनन्त गुण श्रेष्ठ है—

ब्रह्मज्ञान प्राप्त होने पर जो प्राप्ति होती है, वह इतनी क्षुद्र होती है कि उसे यदि भक्ति कण या प्रेम-कण संज्ञा दी जाय तो इससे उसकी ही महिमा बढ़ती है। श्रीपाद अपने ग्रन्थमें लिखते हैं—

> ब्रह्मानन्दो भवेदेषचेत् परार्द्धगुणीकृतः ।
> नैति भक्ति सुखाम्भोधेः परमानुतुलामपि ॥

व्यर्थकी ज्ञान चर्चाकी आवश्यकता ही क्या ? इस प्रकारका बालचपलता तो अपनी शैशवावस्थामें ज्ञान पिपासाके समय अनेकों बारकी है। परन्तु उसे तो अकर्मण्यता समझकर छोड़ दिया। अब बालकोंके दलमें पुनः प्रवेश करनेके लिये इतना आग्रह क्यों ?

ज्ञानवादी, हाक्सली, चार्वाक, डॉरउइन प्रभृति ज्ञानमार्गी परस्पर निन्दाकारी व कुसंस्काराच्छन्न हैं।

ज्ञानी व्यक्ति संस्कार,कुसंस्कार आदि अवस्थाओं के दास हैं। ज्ञान प्राप्तिके पश्चात् वे जब सुसंस्कारके हाथोंसे छुटकारा पा लेते हैं, तब फिरसे तुम्हें ज्ञाना-नुशीलनकी आवश्यकता नहीं होती-यह सिद्धान्त हुआ। यदि ज्ञानवादियोंके सम्प्रदायके मनोगत भावोंकी तालिका संग्रहकी जाय हम सहज ही जान सकेंगे कि वे लोग ही परस्पर संस्कारसे फँसे हुए बतलाते हैं। हाक्सली, चार्वाक, डार्विन आदि ज्ञान-वादी आधुनिक वैदान्तिक ज्ञानवादियोंको कुसंस्कार युक्त हेय विचार करेंगे। संकीर्ण सांम्प्रदायिक उन्नतशील-तुम अपने अज्ञान-पुञ्जसे ज्ञानातीत भक्तके पवित्र कलेवरको क्यों आच्छादन करनेका प्रयास करते हो ? समझमें नहीं आता। तुम्हारी अज्ञानता दूर होनेका कोई उपाय नहीं। सिद्धान्त स्थिर होनेपर ज्ञानानुशीलनकी आवश्यकता नहीं रहती। ज्ञान विषयको फिरसे जाननेका प्रयास करना विकृत मस्तिष्कका क्या परिचय नहीं ?

नकली सन्तोंको सच्चे मानकर सन्तोंकी निन्दा करना युक्ति सङ्गत नहीं है

यदि ज्ञानके द्वारा विषयके रूपमें भक्ति या प्रेमकी प्राप्ति स्वीकृत है, तब उसे किसलिये मलीन करनेकी चेष्टाकी जाती है ? ढोंगी वैष्णवको विशुद्ध वैष्णव समझना कहाँ तक ज्ञानका परिचय है—इसे तो ज्ञानवादी ही कह सकते हैं ? किसी ढोंगी ज्ञानवादी या ब्रह्मवादीको देखकर यदि कोई अज्ञानवादी समझकर ज्ञानवादीकी निन्दा करे, तो यह ठीक नहीं है, उसी प्रकार जो दुर्नैतिक और स्वार्थी व्यक्ति परम पवित्र धर्मके अन्तरालमें बगुलेकी तरह घुसे हुए हैं, उनको धार्मिक या ज्ञानी महापुरुष मानना ही पड़ेगा—ऐसी बात नहीं है अथवा उनकी दुर्नैतिकता आदिके कारण भक्ति मार्ग ही हेय और दूषित समझा जायगा। इसी प्रकार महाजन भी इस श्रेणीके कपटी और दुर्नैतिक भक्त वेशधारी व्यक्तियोंके आचरणके लिये उत्तरदायी नहीं है। प्रेम धर्ममें ज्ञानका मल लगनेसे ही नाना प्रकारके उपधर्मोंकी उत्पत्ति हुई है और उसीसे ढोंगी भक्तोंकी सृष्टि हुई है। फल स्वरूप मायावाद रूप विषके कीटाणु समस्त विश्वमें इनके द्वारा फैलानेके प्रयास किये जाते हैं। इन ज्ञानवादियोंकी यह चेष्टा नयी नहीं है। इनमेंसे कुछ लोगोंने भक्तिको ज्ञानके अधीन करनेकी चेष्टा भी की है। परन्तु इसका परिणाम क्या होगा—इस पर इन्होंने सूक्ष्म विचार नहीं किये हैं। इसका फल यह हुआ कि बाउल, कर्ता भजा आदि भक्ति विरोधी कुधर्म समूह ही पवित्र धर्मके नामसे आधुनिक जगतमें पूजे जा रहे हैं। इन असत् सम्प्रदायोंके अतिरिक्त आजकल और भी अनेक सम्प्रदाय पैदा हुए हैं और भक्तिके नाम पर अभक्तिका प्रचार करते हैं। हिताहित विवेक शून्य मूर्ख लोग उसी श्रोतमें बहे जारहे हैं। आजकल ऐसे असत् सम्प्रदायोंकी ही प्रधानता लक्षित होती है।

भक्तिरूप दूधमें ज्ञान रूप कण्कड़का अभाव रहनेसे वह सड़ जायगा ऐसी बात नहीं, दूधमें कण्कड़ मिलाना बुद्धिमानीका परिचय नहीं, कण्कड़ मिलानेसे दूध गन्दा हो जाता है। उसी प्रकार ज्ञान मिश्रणसे भक्ति दूषित हो पड़ती है। अतः जैसे शुद्ध-पान स्वास्थ्य वर्द्धक होता है, उसी प्रकार शुद्ध भक्ति भी जीवनके लिये हितकारी होती है। उसमें ज्ञान कण्कड़ मिश्रण करना उसे विकृत करना है। ऐसा करनेसे ही बाउल, कर्त्ताभजा, नवगोरा, थियोसफी, नवयूगीय ब्राह्म, तान्त्रिक, वैदिक नामधारी सुविधावादी अनेक असत् सम्प्रदायोंकी सृष्टि हुई है और आगे भी होगी और भक्तिका लोप होगा।

मायावाद और ज्ञानवाद ही सब प्रकारके दोषोंका मूल है

इसीलिये कलियुग पावनावतारी करुणावरुणालय स्वयं भगवान् श्रीचैतन्यचन्द्रने मायावादियोंका सङ्गत्याग ही भक्तिकी वृद्धिका उपाय बतलाया है। इस ज्ञानी-दलमें मायावाद कहीं सुप्त रूपमें है और कहीं जाग्रतरूपमें है। अभक्त मायावादी विभिन्न स्तरोंमें विभक्त रहने पर भी वैसे भी ब्रह्म विरोधी है—इसमें तनिक भी सन्देश नहीं है। प्रेम पवित्र सूर्यके समान है, उसे साधारण खद्योत-तुल्य ब्रह्मज्ञानके सामने अधिक रूपमें प्रकाशित करनेका प्रयास ही कुकर्म है। कुकर्म अपरिणाम दर्शी अवएव निरर्थक है, ज्ञानवादी उसीका प्रचार करते हैं—उनके सम्प्रदायके लोगोंकी कृपा कम होनेसे ही साधारण जनता भक्तिदेवीकी विशुद्धता अधिक उपलब्धि करेंगे। ज्ञानकी प्रधानता देकर भक्त सजनेसे ही इसप्रकारका कलंक अवश्यभावी है। ज्ञानवादी मलसे मल धोना चाहते हैं। ज्ञानकी जो कुछ भी महत्ता देखी जाती है वह भक्तिके संस्पर्श है। भक्तिके साथ ज्ञान मिलनेसे निर्मल भक्ति कुरूप हो गई है; ज्ञानवादियोंने ज्ञानके दोषको काटनेके लिये ही उपायके रूपमें भक्तिको स्वीकार किया है भक्तिके साथ ज्ञानकी अधिक प्रबलता रहनेसे ज्ञानवादके अन्दरसे ज्ञानका दोष दूर हो जायेगा। यह विचार इसप्रकारका है जैसे किसीके शरीरका अङ्ग एसिडसे जल गया तथा दाग हो गया।

अब उसके लिये कहाजाय कि यदि सारा अङ्ग एसिड से जला दिया जाय तो पहलेका जला हुआ दाग नहीं दीख पड़ेगा । हे ज्ञानवादी, तुम्हारी जो दुर्दशा हो रही है उसका कारण ज्ञान शून्य शुद्ध भक्ति नहीं है। बल्कि शुद्ध भक्तिका अभाव ही उसका कारण है। तुम्हारी भगवानमें भक्ति रहनेसे या भक्तिकी आवश्यकता उपलब्धि होनेसे तुम्हारी गणना अभक्तोंमें नहींकी जाती।

मायावाद रूप ज्ञान ही भक्तिको दूषित करता है

भक्तिका स्वीकार न करना ही प्रधान अज्ञान है। इस अज्ञानको ही तुम ज्ञान कहते हो । भक्तिकी उपयोगिता अनुभूत होनेपर विशुद्ध ज्ञान प्राप्त होगा और अज्ञान दूर हो जायेगा। शुष्क ज्ञान प्राप्त करने की चेष्टा ही अज्ञान है, क्योंकि तुम्हें जब शुद्ध या भक्ति प्राप्त हो जायगी तब तुम शुष्क ज्ञान अनुशीलन रूप अज्ञानको ज्ञान नहीं कहोगे । ज्ञानानुशीलन-रहित न होनेसे भक्ति या प्रेम उदय नहीं हो सकता। तुम ज्ञानकी दोहाई देकर जो भक्ति विनाशक ज्ञान कण्डूको भक्तिके साथ मिश्रण करनेका प्रबल प्रयत्न कर रहे हो, उससे उपधर्म या भक्ति रहित धर्मोंका जगतमें प्राबल्य हो जायगा। अब स्वयं ही स्थिर होकर विचार करो—जगतके जंजाल कौन हैं ? अपने ज्ञानसे स्वयं अनुभव कर सकते हो।

—जगतगुरु श्रील ठाकुर भक्तिविनोद

गोवर्द्धन पूजा

द्वापर युगके अन्तमें व्रजवासी गोपगण देवराज इन्द्रकी यथोचित पूजाके विधानके लिए आवश्यक सभी वस्तुओंको इकट्ठा कर रहे थे। भागवतके पाठक और पाठिकाएँ यह जानती हैं कि हम जिस जगत्में निवास करते हैं, वह अप्राकृत भगवद् धामका ही हेय प्रतिफलन स्वरूप है। जिन्होंने इस जगत्के प्राचीनतम इतिहास ऋग्वेदादि ग्रन्थोंकी आलोचना की है, उन्होंने देखा है कि उन सब संहिताओंमें भी तात्कालिक व्यक्तियोंमें इन्द्र पूजाके विषयमें विशेष आग्रह पाया जाता है। संहिताके भागमें इन्द्रके अनेक स्तव वर्तमान हैं, क्योंकि इन्द्र मेघपति हैं। मेघ पृथ्वीमें जल वर्षा कर शस्यादिकी रक्षा करते हैं । शस्यकी रक्षा होने पर जीवगण उससे स्वच्छंद जीविका निर्वाह करते हुए धर्म, अर्थ, काम आदिके साधनमें समर्थ होते हैं। इसीलिए जगत्की प्राचीन सभ्यताके युगसे मेघपति इन्द्रकी आराधनाकी बातें इतिहास ग्रन्थोंमें पाई जाती हैं। यह पहिले ही कहा जा चुका है कि नित्य धामका विकृत प्रतिफलन ही यह संसार है अर्थात् नित्य धाममें जो जो कार्य एकमात्र अद्वय ज्ञान व्रजेन्द्रनन्दनके सुखके निमित्त किये जाते हैं, मर्त्यधाममें उन्हीं सब कार्योंकी ही प्रतिच्छवि दिखाई पड़ती है। नित्य धामके समस्त कार्य एक अद्वयवस्तुके सुखके लिए किये जाते हैं। इसलिए उनमें हेयता या अश्रेष्ठता नहीं है और संसारके समस्त कार्य देह और मनमें आबद्ध भोगी आरामतलबी आदिके अपने अपने शरीर और मनकी तुष्टिके लिये किये जाते हैं। इसलिए उनमें अश्रेष्ठता और हेयता वर्तमान है।

व्रजके निवासीगण जो कुछ करते हैं, उसमें उनके निजी सुखकी इच्छाका लेश मात्र भी नहीं है। उनकी देह-रक्षा, भयभीत आदि जो कुछ हैं, वे सब द्वितीय अभिनिवेश युक्त देह और मनमें आबद्ध व्यक्तिकी भाँति नहीं हैं। उनकी देह रक्षा कृष्णेन्द्रियके सन्तोषार्थ है। उनमें जो भयभीति होती है वह इसलिए होती है कि कहीं भगवान्के सेवा-कार्यमें विघ्न न उपस्थित हो जाय। उनका ममत्व, मोह और स्नेह आदि एक अद्वयवस्तु श्रीभगवान्में पाल्य ज्ञानके

कारण हैं। अतएव उनकी चेष्टाओंको जगत्के विकृत चक्षुओं अथवा धारणाओं से दर्शन अथवा अनुधावन करनेसे प्राकृत व्यक्तिके प्राकृत चेष्टाकी ही भाँति अनुभूत होता रहता है; किन्तु जिन्होंने चिद्विलास-राज्यका अनुसन्धान पा लिया है वे इस जगत्को और इस जगत्के अधिवासियोंके समस्त कार्योंको चिद्धाम की और चिद्धाम निवासी नित्य भगवत् सेवकोंकी विकृत प्रतिच्छविके रूपमें देखकर चिद्धाममें नित्य-वस्तुके नित्य स्वरूपकी अवस्थिति देख सकते हैं। कृष्णगत प्राण गोपगण इसीलिए आज मेघाधिपति इन्द्रकी आराधनाके लिए नाना प्रकारकी पूजा सामग्री को इकट्ठा कर रहे हैं। गोपगणोंकी इस प्रकारकी चेष्टाओंको देखकर इन्द्र गर्वसे चूर हो रहे हैं। इन्द्र आज अपनेको स्वतंत्र ईश्वर मान रहे हैं। इन्द्रके इस दर्पको नष्ट करनेके लिए और संसारमें अपने सर्वेश्वरेश्वरत्वका प्रचार करनेके निमित्त दर्पहारी भक्त-वत्सल श्रीभगवान् सर्वान्तर्यामी होकर भी अज्ञकी भाँति अभिनय करके श्रीनन्दादि गोपगणों से पूछ रहे हैं,—"पिता जी! आप लोग इन सब पूजाकी सामग्रियों को क्यों इकट्ठा कर रहे हैं? इस पूजाके देवता कौन है–?" श्रीकृष्णकी इन बातोंको सुनकर परमवात्सल्य पूर्ण व्रजराजनन्दने कहा,—"बेटा! आज हम सब इन्द्रकी पूजा करनेकी तैयारी कर रहे हैं। मेघ रूपी इन्द्र जलकी वर्षा करके जीवोंका अशेष कल्याण साधन करते हैं। इन्द्रकी अर्चना करना हमारे यहाँ सनातनरूपसे चला आरहा है। इन्द्रके बरसाये हुए जलसे जोसब द्रव्य उत्पन्न होते हैं, उन्हींके द्वारा हम सब उनका पूजन और अपनी जीवन निर्वाह करते हैं।' इन सब बातोंको सुनकर श्रीकृष्णजीने कहा– "पिता जी! जीव और जीवका सुख, दुःख, भय और मोक्ष आदि कर्म द्वारा ही उत्पन्न होते हैं और कर्मके ही प्रभावसे लयको प्राप्त होते हैं। यदि कर्मफलदाता कोई ईश्वर वर्तमान हों तो वे भी कर्मफल दान करके कर्त्ताका ही भजन करते हैं। क्योंकि जो व्यक्ति कर्म नहीं करता वे उसके प्रभु नहीं हैं अर्थात् उसे फलदान करनेमें वे समर्थ नहीं हो सकते। यदि कर्मसे ही फल सिद्धि हुई और समस्त प्राणी कर्मके ही आधीन हो गये तो फिर कर्मानुवर्ती प्राणियोंके लिए इन्द्रकी क्या आवश्यकता है? पूर्व जन्मार्जित संस्कारके वशमें ही सभी काम किये जाते हैं, उनके विरुद्ध कोई भी काम करनेका सामर्थ्य इन्द्रका अथवा अन्य किसी देवतामें नहीं है। अतएव कर्मही ईश्वर हैं। अचिन्त्य चरित्र श्रीभगवान्ने कर्म-जड़ याज्ञिक विप्रोंका गर्व विनाश करनेके बाद ही आज फिर कर्म देवता इन्द्रके गर्वका विनाश करनेके लिए और संसारमें कर्म जड़ व्यक्तियों अज्ञज ज्ञान चेष्टाको तुच्छ बताकर अधोक्षज भगवद् भक्ति अथवा आत्माके सहज धर्मका माहात्म्य प्रचार करनेके लिए वात्सल्यरस-सर्वस्व पशुपेन्द्र नन्द महाराजको लक्ष्य करके कर्मजड़ व्यक्तियोंकी ईश्वर-सम्बन्धमें धारणा और उनकी कर्मके अधीन ईश्वर पूजाकी चेष्टाका प्राकृतत्त्व और सहज आत्मधर्मके अप्राकृतत्त्व प्रचारके निमित्त इस प्रकारका अभिनय किया। गोपराज नन्द और गोकुलके गोपोंका गोपत्त्व ही उनका नित्य स्वरूप और "गोपवेश वेणुकर" गोकुलचन्द्र श्रीकृष्णके क्रीड़ोपकरण, सेवोपकरण, धेनु, शैल आदिकी सेवा करना ही नित्यगोपगणोंका नित्य "स्वधर्म" अथवा "स्वरूप धर्म" है। इसीलिए श्रीकृष्णने गोपेन्द्रनन्दसे कहा—

"वयं गोवृत्तयोऽनिशम्"

अर्थात् हम गोप जाति हैं। गो चारा ही हम लोगोंकी वृत्ति है। उन्होंने और भी कहा—

"न नः पुरो जनपदा न ग्रामा न गृहा वयम्।
वनौकसस्तात नित्यं वनशैलनिवासिनः॥
तस्माद्गवां ब्राह्मणानामद्रेश्चास्मद्वयं मखः।
य इन्द्रमख-संभारास्तैरयं साध्यतां मखः॥
पच्यन्तां विविधाः पाकाः सूपान्ताः पायसादयः।
संयावा पूपशष्कुल्यः सर्वदोहश्च गृह्यताम्॥
(भा. १०।२४।२३-२५)

हे तात, हम वनवासी हैं। वन और पर्वतोंमें निवास करते हैं। नगर, देश और ग्राम—ये सब हमारे कल्याणके हेतु नहीं हो सकते, केवल शैल आदि ही हमारे योग और क्षेमके कारण हैं। अतएव आप लोग गो, ब्राह्मण और पर्वतोंकी पूजा आरम्भ कीजिए। इन्द्रके यज्ञार्थ जो सब सामग्रियाँ इकट्ठी की गई हैं उन्हींके द्वारा ही यह यज्ञ पूरा किया जाय। खीर, लड्डू, और विविध प्रकारके अन्न व्यंजनादि, गेहूँ के गुलगुले और पूड़ियाँ तैयारकी जायँ और आप लोग दूध, दही, माखन आदिका संग्रह करें।

पाठक और पाठिकागण! गोपेन्द्रनन्दनकी इन बातोंका तात्पर्य क्या आपकी समझ में आ गया? इन सब सरल बातों द्वारा श्रीकृष्ण आज अपने स्वरूप और अपने भक्तगणोंके स्वरूप धर्मका प्रकाश कर रहे हैं। कृष्ण शुद्ध माधुर्यमय हैं। कृष्णका धाम आनन्दमय है। पर व्योमका ऐश्वर्यप्रभाव वृन्दावन के निकट कुछ भी नहीं है। फल, फूल और किसलय ही व्रजकी सम्पत्ति हैं। गोधन समूह ही व्रजकी प्रजा है। यहाँके ब्राह्मणगण व्रजपुरके हितकारी रूपमें कृष्णके सेवक हैं। शैलादि श्रीकृष्णकी विचरण भूमि अर्थात् कृष्णके सेवोपकरण होनेके कारण उन्हीं की सेवा ही गोपोंके लिए योग और क्षेमका कारण है। माखन, दही और दूध ही व्रजका खाद्य है। समस्त कानन, उपवन और पर्वत कृष्ण प्रेममय हैं। व्रजकी समस्त प्रकृति कृष्णकी परिचारिका है। अतएव उसी अद्वय चिद्विलास धाममें अद्वयज्ञान व्रजेन्द्रनन्दनके अतिरिक्त दूसरे भोक्ताका अधिष्ठान नहीं है। इन्द्रादि देवतागण अपनेको स्वतन्त्र भोक्ता के रूपमें जो अभिमान करते हैं, वह उनकी अज्ञानता अथवा द्वितीय अभिनिवेश-प्रसूत व्यापार है। इन्द्र पूजाको रोक कर और इन्द्रकी पूजाके लिए इकट्ठाकी गई वस्तुओं द्वारा अपनी पूजाका विधान कराके श्रीकृष्णने आज कृष्णार्जुन संवादकी सार्थकताका विधान कर दिया है—

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥
येऽप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम्॥
अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च।
न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते॥
यान्ति देवव्रता देवान् पितॄन् यान्ति पितृव्रताः।
भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम्॥
पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति॥
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः॥
यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत् कुरुष्व मदर्पणम्॥
(गीता ९।२२-२७)

जो एकमात्र अद्वय ज्ञान-तत्त्व व्रजेन्द्रनन्दनको स्वतन्त्र भगवान् न मानकर अन्यान्य देवताओंकी आराधना करते हैं अथवा जो स्वतन्त्र भगवान्के साथ अन्यान्य आधिकारिक देवताओंको समपर्याय-युक्त मान कर चिज्जड़-समन्वयवादी होते और जो दैवीमायासे विमोहित होकर प्राकृत श्रद्धाके साथ अन्य देवताके भजनको "भगवद् भजन" कहकर मान लेते हैं किन्तु अपने कार्य की अवैधत्व समझने में असमर्थ हैं उन्हीं सब प्राकृत व्यक्तियोंकी दुर्बुद्धिको दूर करनेके लिए भगवान् श्रीकृष्णने इन्द्रपूजाके लिए एकत्रितकी गई वस्तुओं द्वारा अपनी पूजा करायी और यह दिखा दिया कि वे ही सर्वयज्ञके भोक्ता और प्रभु हैं। अन्य देवताके उद्देश्य में जो सब सामग्रियाँ इकट्ठीकी जाती हैं उनके द्वारा अवैध भाव से उन-उन देवताओंकी पूजा न करके सर्व यज्ञेश्वरकी पूजाही विधि अथवा परम कर्त्तव्य है।

कृष्णगत प्राण व्रजवासियोंने ज्यों ही श्रीकृष्णकी बातोंको सुना, त्योंही वे परमभोक्ता अद्वयतत्त्व श्रीव्रजेन्द्रनन्दनकी विचरण-भूमि, गिरिराज गोवर्द्धन की पूजा करने में लग गये। गोधनको आगे करके गोपगण गिरिराजकी परिक्रमा करने लगे। यही गिरिराज गोवर्द्धन व्रजेन्द्रनन्दनका निवास-स्थान है।

यहीं पर श्रीकृष्णचन्द्र गोपालमूर्ति धारण करके निरन्तर विहार करते रहते हैं। श्रीगोवर्द्धन शृङ्गार रसके सिंहासन-स्वरूप हैं। ये गोकुलपतिके अजस्र प्रेमामृतसे परिपूर्ण हैं। ये गिरिराज कृष्णके सेवोपकरण गो, मृग, पक्षी, पेड़ आदि द्वारा सुशोभित होकर श्रीकृष्णका मनोहर आश्रय-स्थान-स्वरूप हैं। गिरिराज गोवर्द्धन हरिभक्तोंमें अग्रगण्य हैं, क्योंकि वैष्णवराज शिव विष्णुपादोद्भवा गंगाको सिर पर धारण करके शिवस्वरूप और सभीके मान्य हुए थे; किन्तु गिरिराज गोवर्द्धन उन महा भागवत शिवकी अपेक्षा भी अधिक माननीय हुए हैं। क्योंकि ये नत मस्तक होकर तथा भक्तिपरिप्लुत हृदयसे सर्वदा कोटि गंगाओंसे भी श्रेष्ठ श्रीकृष्ण चरणजात श्यामकुण्ड और अमूल्य निधि स्वरूप श्रीराधाकुण्ड को धारण कर रहे हैं। ये सर्वदा श्रीकृष्ण के अनुग्रहके पात्र होकर भक्तोंके अतिशय स्तवनीय हुए हैं। श्रीगोवर्द्धनमें श्रीदामादि मित्रों और श्रीबलदेवके साथ मिलकर गो चारण करते-करते न जाने श्रीकृष्ण कितने सुमधुर गीत गाते रहते हैं। इन गिरिराजकी निर्जन गुफाएँ श्रीराधाकृष्ण के क्रीड़ा-स्थान हैं। चारों ओर श्रीदान कुण्ड आदि अनेक कुण्ड शोभा पा रहे हैं। अवधूत-कुल-चूड़ामणि श्रीशुकदेव गोस्वामी प्रभु तक ने अनेक प्रकारसे इस गिरिराजके गुणोंका वर्णन किया है। श्रीकृष्णने तपन-तनया कालिन्दीको, अत्युच्च गिरिगणोंको, व्रजजनके आश्रयीभूत और अभीष्टप्रद नन्दीश्वर तकको त्याग करके वृन्दावन-रक्षार्थ भूधरगणोंके शिरोभूषण स्वरूप इन गिरिराज की अर्चना करके इनका सम्मान प्रदर्शन किया था। यही गिरिराज गोवर्द्धन रसिक-कुलनायक रसराज श्रीगोविन्दकी दान-क्रीड़ाके साक्षी स्वरूप और रसिक भक्तोंके आनन्दवर्द्धक हैं।

इसीलिए आज अद्वयतत्त्व श्रीभगवान् गोपगणों में विश्वास उपजानेके लिए एक दूसरा रूप धारण करके "मैं शैल हूँ" यह कह कर पूजोपकरणों का भक्षण करने लगे। व्रजवासियोंके प्रति कृपा करनेके लिए वे व्रजवासियोंके साथ आप ही अपने को नमस्कार करते हुए बोले, 'अहो! देखो, वह मूर्तिमान पर्वत हम लोगोंके प्रति कैसा अनुग्रह कर रहा है। जो सब वनवासी व्रजवासियोंको तुच्छ समझते थे, उन्हीं को यह शैल सर्प आदिके रूपमें विनाश कर रहा है। आओ, अपने और अपने गोधन की रक्षाके लिये इनको नमस्कार करें।

व्रजनन्दनकी इन सब बातोंको सुनकर यथाविधि गिरिराज गोवर्द्धनकी पूजा करके गोपगण व्रज लौट आये। इधर उन सबके ऐसे कार्यसे इन्द्र बहुत ही असंतुष्ट हुए और भगवान् श्रीकृष्णको प्राकृत बालक तथा गोप-गोपियोंको प्राकृत मनुष्य जानकर उन्होंने अत्यन्त वर्षा और मेघ गर्जना आदि द्वारा व्रजस्थ कृष्णगत प्राण गोपगणोंके हृदयमें भयका संचार किया। व्रज जन-बान्धव भक्तवत्सल श्रीकृष्णने सात दिन तक अपनी कनिष्ठांगुलिके ऊपर गिरिराजको छातेकी भाँति धारण करके भक्तोंकी रक्षा की और इन्द्रके दर्पको चूर्ण कर दिया। अतएव श्रीकृष्णके कर-पद्मस्थित कनिष्ठांगुलिरूप पद्मकोषमें मुग्ध भृङ्गकी भाँति स्थित होकर जिन्होंने अतिवृष्टिकारी शत्रु इन्द्रसे व्रजकी रक्षाकी है, उन गोकुलबान्धव गिरिवर गोवर्द्धनकी पूजा करना प्रत्येक बुद्धिमान् व्यक्तिका कर्त्तव्य है।

स्वयं गौरहरिने भी अपने आचरण द्वारा गिरिराज गोवर्द्धनके महात्म्यका संसारमें प्रचार किया है। श्रीमान् महाप्रभु राधाकुण्ड और श्यामकुण्ड को प्रकाशित करके कुसुमसरोवरके समीपवर्ती गिरिराज गोवर्द्धनके निकट जब आकर उपस्थित हुए तब—

"गोवर्द्धन गिरि देखकर, प्रभुने किया प्रणाम।
लगा लिया उन्मत्त हो, उरमें शिला ललाम॥"
(चै० च० मध्य १८ वाँ अ:)

गोवर्द्धन साक्षात् भगवन्मूर्ति है—यह जनानेके लिए भक्त-भावको अङ्गीकार करने वाले श्रीगौरहरि ने गोवर्द्धनके ऊपर स्थित श्रीगोपालकी मूर्तिका

दर्शन करनेके लिए गोवर्द्धनके ऊपर आरोहण नहीं किया।—(चै० च० मध्य १८ वाँ)

नहीं करूँगा इस जीवनमें गोवर्द्धन पर आरोहन।
कहो भला गोपाल रायका कैसे पाऊँगा दर्शन॥

ऐसा भाव प्रकट करके वे वहाँ पर निवास करने लगे। इधर "गोवर्द्धन पर्वत पर आरोहण नहीं करूँगा"—"इस प्रकार प्रतिज्ञायुक्त" और "मैं कृष्ण भक्त हूँ" इस अभिमानयुक्त गौरहरिको गोवर्द्धनसे उतर कर गोपाल रायने दर्शन दिया। महाप्रभु गोवर्द्धनके ऊपर चढ़कर गोपालके दर्शन नहीं करेंगे—यह जानकर स्वयं गोपाल "अन्नकूट ग्राम" से म्लेच्छभय का बहाना करके "गाँठुली" ग्राममें आ पहुँचे। दूसरे दिन प्रातःकाल मानसीगङ्गामें स्नान करके महाप्रभु गोवर्द्धन-परिक्रमाके लिए चले:—

"प्रेमाविष्ट हुए प्रभु त्यों ही ज्यों ही देखा गोवर्द्धन।
चले श्लोक को पढ़ते पढ़ते प्रेम मत्त होकर नर्तन॥"

"हन्तायमद्रिवलो हरिदासवर्यो
यद्रामकृष्णचरण-स्पर्श-प्रमोदः।
मानं तनोति सह गोगणयोस्तयोर्यत्
पानीयसूयवसकन्दरकन्दमूलैः॥"

यही गोवर्द्धन गिरि हरिदासोंके सर्वश्रेष्ठ हैं। क्योंकि ये रामकृष्ण-चरण-स्पर्शानन्दसे प्रफुल्ल होकर पानी या, सुकोमल तृण, कन्दमूल और उपवेशन योग्य रमणीय स्थान आदि द्वारा वर्तमान राम-कृष्णकी सेवा का विधान कर रहे हैं।

श्रीमहाप्रभुने इसी प्रकार गोवर्द्धनकी परिक्रमा और स्तव आदि किये तथा गोपालके गाँठुली ग्राममें विजय वार्ता सुनकर, उसी ग्राममें जाकर गोपालजी के दर्शन किये। इसके थोड़े दिन बाद जब श्रीरूप-सनातन प्रभु भी वृन्दावनमें आकर व्रजवास करने लगे, तब उन्होंने भी गोवर्द्धन पर्वतको साक्षात् भगवन् मूर्ति जान कर उनके ऊपर आरोहण नहीं किया। जिस प्रकार गोपालने महाप्रभुको दर्शन दिया था, उसी प्रकार उनको भी दर्शन दिया। वृद्धावस्थामें श्रीरूप गोस्वामी गोवर्द्धन तक जानेमें असमर्थ होने पर गोपालके सौन्दर्यको देखनेके लिए बहुत लालायित हुए। श्रीरूप गोस्वामीको दर्शन देनेके लिए गोपाल इस बार भी पहिलेकी भाँति म्लेच्छभयका बहाना करके मथुरा नगरके विट्ठलेश्वर भवनमें आ विराजे और एक मास तक स्वगण सहित श्रीरूपगोस्वामी प्रभुको दर्शन देकर कृतार्थ कर दिया। श्रीजगदानन्द पण्डित गोस्वामी प्रभु जब महाप्रभुकी आज्ञा लेकर वृन्दावन आये तब गौरसुन्दरने जगदानन्दको उपदेश किया था—

"गोपालको देखन हेतु गोवर्द्धन मत चढ़ना।"

(चै: च: अन्त्य १३ वाँ अ०)

श्रीजगदानन्द जब धाम दर्शन करके महाप्रभुके समीप जानेको उद्यत हुए, तब श्रीसनातन प्रभुने महाप्रभुके उपयुक्त भेट स्वरूपसे जगदानन्दको रासस्थलीकी रेती और गोवर्द्धनकी शिला प्रदान की थी। श्रीमन्महाप्रभुके चटक पर्वत दर्शनके समय गोवर्द्धन स्मृतिका विषय हम चरितामृतके अन्तिम चौदहवें परिच्छेदमें पाते हैं।

कृष्णचन्द्रने वेणु बजायी गोवर्द्धन पर चढ़कर।
गोवर्द्धनके चहुँदिस गौएँ घूम रही हैं चरकर॥
वंशीध्वनिको सुनकर राधा प्रेम मग्न हो धाईं।
प्रेम-विह्वला हो सब सखियाँ भूषित करने आईं॥
चले गये फिर गुफा बीच कृष्ण राधाको लेकर।
कुसुम चयन करनेके कारण सखियोंने फैलाया कर॥

(चै० च० अन्त्य १४ वाँ अ०)

श्रीगौरहरिके वृन्दावनमें आनेके पहिले ही श्रीमाधवेन्द्र पुरीपाद वृन्दावनमें उपस्थित होकर भ्रमण करते-करते गोवर्द्धनके समीप पहुँचे। एक दिन वे गोवर्द्धनकी परिक्रमा करके तथा गोविन्द-कुण्डमें स्नान करके सन्ध्याके समय एक पेड़के नीचे बैठे हुए थे कि एक गोपबालक एक घड़ेमें दूध लेकर पुरी गोस्वामीके पास आ पहुँचा। वह उसी ग्रामका निवासी है। जो ग्रामकी स्त्रियों द्वारा उपवासी संन्यासीके निकट प्रेरित हुआ है, इस भाँति श्रीमाधवेन्द्रपुरीके समीप

आत्म परिचय देकर वहाँसे अन्तर्धान हो गया। रात्रिके शेष भागमें माधवेन्द्रपुरीपादने स्वप्नमें उसी गोप-बालकको फिर देखा और उन्हें ऐसा विदित हुआ मानो वह बालक पुरीजीको हाथ पकड़ कर एक कुञ्जके भीतर ले गया। और उस कुञ्जमें गर्मी, वर्षा, जाड़ा आदिका सहन करना उनके लिए (गोपालके लिए) बड़ा ही कष्ट कर है, अतएव उन्हें गोवर्द्धन पर्वत पर ले जाकर वहाँ पर मन्दिर निर्माणपूर्वक उसमें उनकी (गोपालजीकी) प्रतिष्ठा करनेके लिए कातरोक्ति की और यह भी कहा कि उनका नाम 'गोवर्द्धनधारी गोपाल' है। वे श्रीकृष्ण के पौत्र—अनिरुद्धके पुत्र महाराज वज्रकी प्रकाशित मूर्ति हैं। वे पहिले उसी गोवर्द्धन पर्वतके ही ऊपर निवास करते थे, किन्तु म्लेच्छोंके डरसे उनके सेवक उन्हें कुञ्जमें छोड़ कर भाग गये हैं। ऐसे आश्चर्यपूर्ण स्वप्नको देखकर माधवेन्द्रपुरी उठे और प्रातःकालमें स्नान आदि नैमित्तिक क्रियाओंको पूरा करके ग्राममें गये तब गिरिधारीकी बातें सुना कर और ग्राम निवासियोंको साथ लेकर जङ्गलादि काट कर उन्होंने गोपालजीके विग्रहका उद्धार किया। इसके उपरान्त गोपालजीको पर्वतके ऊपर ले जाकर प्रस्तरके सिंहासन पर स्थापित किया और यथाविधि उनका अभिषेक आदि पूर्ण करके ग्रामवासियों द्वारा दिये गये नाना-विध उपहारों द्वारा महोत्सव किया।

दस विप्रोंने मिल किया, अन्न आदिका स्तूप।
लगे पकाने पाँच विप्र, व्यंजनादि बहु सूप॥
कन्द-मूल-फल आदि सब, आये बहु विध साग।
बड़ा पकौड़ी विप्रगण, राँधत सह अनुराग॥
लगे बनाने विप्र कुछ, फुलके कोमल खूब।
व्यंजन सब घीमें पड़े, रहे लबालब डूब॥
वस्त्र नया फैलायके, बिछा दयूलके पात।
पका-पका फैला रहे, विप्र सुवासित भात॥
उसके ढिंग सब रोटियाँ, पर्वत सी दिखलाँय।
व्यंजनादिके भाण्ड सब, धरे वहाँ पर लाय॥
दही दूध माठा प्रभृति, शिखरण चारु बनाय।
खीर, मलाई आदिको, जल्दी दिया सजाय॥
"अन्नकूट" को इस तरह, सहित यथाविधि साज।
अर्पित किया गोपालको, पुरी गुसाईं आज॥

× × ×

एक गाँवमें एक दिवस जा भीख सबोंने माँग लिया।
हर्षित होकर प्रेम भावसे अन्नकूट त्यौहार किया॥

× × ×

चकित हुए सब ग्राम निवासी देख पुरीका कार्य यही।
मानो दीख पड़ा सब जनको अन्नकूट प्रचीन वही॥

(चै० च० मध्य चौथा)

अतएव यह गोवर्द्धन पूजा और अन्नकूट महोत्सव द्वापर युगसे संसारमें होता चला आ रहा है। गोवर्द्धन पूजा और अन्नकूट महोत्सव भौम व्रजलीलामें द्वापर युगमें प्रकाशित होने पर भी अप्रकट लीलामें नित्य विराजित है। गोवर्द्धन गिरिधारी की इन्द्रियोंके तोषणार्थ ही यह गोवर्द्धन पूजा की जाती है। किन्तु आजकल दुर्गोत्सव, विवाहोत्सव आदिकी भाँति आत्मा और इन्द्रियकी तृप्तिमें लीन होकर भक्तिके अङ्ग कर्म-काण्डके अन्तर्गत कार्यके रूपमें भी इसका अनुष्ठान किया गया है। किन्तु वास्तवमें इसके द्वारा गोवर्द्धनकी पूजा नहीं होती है। उस प्रकारकी आत्मेन्द्रिय तृप्ति कर्मकाण्ड मात्र है। वह कृष्णको तुष्ट करने वाली सेवा नहीं है। श्रीपाद माधवेन्द्रपुरी गोस्वामीकी भाँति निष्किंचन महाभागवतके चरण-धूलिसे अभिषिक्त न होकर हम सब इन्द्रियोंके भोग-मूलमें जो समस्त कर्म करते हैं, उनके द्वारा साधु मार्ग-के अनुसरण स्वरूप भक्तिके अंगका याजन नहीं होता। अतएव हमें अपने समस्त कार्योंका अनुष्ठान कृष्णार्थ अखिल चेष्टावाले शुद्ध भक्तके अनुगत होकर करना चाहिये।

श्रीचैतन्य-महाप्रभु

(गत संख्या ३, पृष्ठ ७१ से आगे)

सरसिज से संभूत सृष्टि का सर्जन वाला ।
उसका पावन पुत्र, प्राण-हित करने वाला ॥
उस नारद का प्राप्त किया उपदेश पियारा ।
आकर जिस शुभ धाम बाल ध्रुव स्वर्ग सिधारा ॥७९॥

मानवारि दानव मधु रहता था नृप जिसमें ।
किन्तु विप्र पद पूजि पूत यश पाता जिसमें ॥
जिसके कारण धरा दहलती थी उस युग में ।
उस मधु की पुरी पुरीमणि थी उस जग में ॥८०॥

लंकापति-माँ-स्वसा-पुत्र लवणासुर पापी ।
गो-विप्रामिष-सुरा-नेह-कर्त्ता, आलापी ॥
रहता था जिसकाल बनी उसकी रजधानी ।
गो-सुर-द्विज ऊपर जो करता मनमानी ॥८१॥

उनका खाकर सुधा-सदृश-आमिष वह राजा ।
पाप पयोनिधि पड़ा जाय पर-पुर-पर गाजा ॥
मधुपुरी की दुर्दशा देख कुछ मुनिज्ञानी ।
रातों रात सिधार गये रघुपति रजधानी ॥८२॥

वहाँ प्राप्त कर मान प्रान रक्षा को पाकर ।
तिन संग आ शत्रुघ्न वधा पापी लवणा सुर ॥
वासुदेवकी जन्मभूमि सकल गुनखानि ।
श्रुतिपुराणमें जिसकी महिमा विपुल बखानी ॥८३॥

जिस मथुरा का नाश किया पापी यवनों ने ।
भंजे मन्दिर रखा-धर्म इस्लामी यवनों ने ॥
उस मथुरा मधु मुक्ति पुरी पाकर प्रभु हरषे ।
निरखि हृदय के भाव सुमन सुरभित तंह बरषे ॥८४॥

वर विटपों के बीच विलसती बैलें बारी ।
बाल वृन्द संग नित विलास करते वनवारी ॥
विहरैं बोलैं वृषभ-बाल-बाहन वर बानी ।
वृन्दा विपिन विहार हेरि विस्मित सुररानी ॥८५॥

क्रीडत कीर कपोत कलित कुक्कुट कारंडव।
सुधा सदृश सुखदैन श्रवन पहुँचे जब शुभ रव॥
कीरत-कीरत, कंज-मुखी राजत है राधा।
सरद-सोम-सब समय मनो सोहत निर्बाधा॥८६॥

उस वृन्दावन धाम धीर चैतन्य पधारे।
हुए कृष्ण-लवलीन 'कृष्ण' मुख शब्द उचारे।
विहरै वन-वन वृन्द संग हेरे वृक्षस्थल।
कल कुञ्जों में पहुँच नृत्य करते थे केवल॥८७॥

रह कर कुछ ही काल महाप्रभु काशी आये।
उस स्थल से निकल पुरी जाके छवि-छाये॥
रहे पुरी में बहुत काल तक शचि-सुत सादर।
हुआ वहीं पर मिलन आचार्य वल्लभ से चिर॥८८॥

मिलन काल की कान्ति कौन वर्णन कर सकता।
शब्द-शक्ति है कहाँ सुकवि मन की कह सकता॥
जीव ब्रह्म शुभ तत्त्व कहन लागे ये स्वामी।
सेवक माना जीव, स्वामि प्रभु अन्तर्यामी॥८९॥

शचि-सुत सब-सुख-सिन्धु सम पुरी सुहाते।
मातृ-चरण-पूजन करने प्रति वर्ष पठाते॥
जगदानन्द आनन्द हेतु माया पुर जाते।
आश्वासन के साथ वस्त्र भी वे ले जाते॥९०॥

इस प्रकार महाप्रभु निलाचलमें रहते।
दिन-रात कृष्ण विच्छेदार्णवमें बहते॥
समय हुआ लीला गोपनका मन आहिं विचारो।
विरहानल में छोड़ स्वजन गोलोक पधारो॥९१॥

—श्री शङ्करलाल चतुर्वेदी, एम. ए., साहित्य-रत्न

यह कैसी दया है ?

(१)

गजनीके सुलतान महमूद देश-विदेशके सभी नगरों तथा गाँवों पर चढ़ाई करते और वहाँ से लूट-मारकर समस्त धन-सम्पति उठा ले जाते। उनके राज्यमें ऐसा एक भी कोई गाँव न बचा था, जहाँ उनके अत्याचारका कोइ-न-कोई विलक्षण परिचय न मिलता।

एक दिन वे अपने मन्त्रीके साथ घोड़े पर सवार होकर कहीं जा रहे थे। रास्तेमें एक जगह उन्होंने एक पुराने पीपलकी डालपर दो उल्लूओं को कुछ किचिर-मिचिर-शब्द करते देखा। मन्त्री पशु-पक्षियों-की भाषा समझते थे। सुलतानने कौतुहलवशः मन्त्री से पूछा—'मन्त्री ! ये दोनों उल्लू क्या बातचीत कर रहे हैं ?

मन्त्रीने हाथ जोड़कर नम्रतासे कहा—'जहाँपनह! एक उल्लूको लड़का है, दूसरेको लड़की है। ये दोनों लड़का और लड़कीके विवाहके सम्बन्धमें बातचीत कर रहे हैं।'

सुलतानने फिर पूछा—'क्या बात-चीत हो रही है ?'

मन्त्रीने कहा—'लड़केका पिता एक सौ उजाड़ गाँव दहेजमें माँग रहा है। उत्तरमें लड़कीका पिता कह रहा है कि जब तक हमलोगोंके सुलतान हैं, तब तक उजड़े गाँवोंको क्या पूछना है ? एक सौ की कौन सी बड़ी बात है, मैं पाँच सौ उजड़े गाँव दहेजमें दूँगा।'

मन्त्रीकी बात सुनकर सुलतान बड़े लज्जित हुए। तबसे उन्होंने जीवनमें कभी भी अत्याचार न करने-का संकल्प कर लिया।

बचपनमें इस अजीब कहानीको पढ़ते ही मुझे पशु-पक्षियोंकी भाषा सीखनेकी एक सनक सवार हो गयी। कुछ बड़ा होने पर मैं एक दिन घरसे निकल पड़ा। चलते-चलते बहुत दूर जा पड़ा। हिमालयके एक बर्फसे ढके हुए जंगलमें एक संन्यासीसे भेंट हो गयी। बहुत दिनों तक उनके साथ रहकर उनकी सेवा की। मेरी सेवासे प्रसन्न होकर उन्होंने मुझे पेड़ लता, पशु और पक्षियोंकी भाषाएँ बतला दी। मैं पशु-पक्षियोंकी भाषा जानकर बड़े आनन्दसे घर लौट आया।

(२)

भादोंकी पूर्णमासी थी। वर्षाकी बाढ़से डूबे हुए श्रीधरपुरके वक्षपर चाँदनी चमक रही थी। सारा संसार सो रहा था। पेड़ोंके पक्षी और पालतू जान-वर सभी मौन थे। आधी रातका समय था। गोपाल-जीके मन्दिरके बँधे हुए घाट पर मैं अकेला बैठा हुआ प्रकृतिकी अनेक विचित्रताओंको देख रहा था। बाढ़के कारण तालाब लबालब भरा हुआ था। पास ही हरिहर भट्टाचार्यका एक दूसरा तालाब भी था। दोनों तालाबोंके बीच एक छोटी सी नाली थी, जिसमेंसे होकर दोनोंका पानी एक-दूसरेमें आया-जाया करता था। परन्तु उस नालीके बीचमें बाँसकी एक छोटी सी टट्टी लगी रहनेके कारण एक तालाबकी मछली दूसरे तालाबमें नहीं आ-जा सकती थी।

दोपहरके समय घरके बड़े-बूढ़ोंके काम पर बाहर चले जानेके पश्चात् जिस प्रकार पड़ोसी स्त्रियाँ खिड़कीके पास बैठ कर भीतरसे ही दुनियाँ भरकी बातें किया करती हैं, उसी प्रकार रात्रिकी नीरवतामें अपने शत्रु मनुष्योंकी आहट न पाकर गोपालजीके मन्दिरवाले तालाबकी एक मछली और भट्टाचार्यके तालाबकी एक मछली दोनों परस्पर अपने दुःख-सुख-की बातें करने लगीं। मैं घाट पर बैठा हुआ बड़े ध्यानसे दोनोंकी बातें सुनने लगा।

मन्दिर वाले तालाबकी मछली कातला जातिकी मछली थी और भट्टाचार्य महाशय वाले तालाबकी मछली रोहित जातिकी थी। दोनोंमें इस प्रकारकी बातें होने लगीं।

कातलाने कहा—'रोहित! सुना है महन्तजीने किसी मछुएके हाथ हमें बेच दिया है। शायद हमारी यह अन्तिम भेंट हो।'

रोहितने उत्तर दिया—'बहिन! कुछ कहनेकी बात नहीं है। तम तो कल तकके लिये निश्चिन्त हो। परन्तु मेरे लिये तो दो-चार क्षण ही बाकी जान पड़ते हैं। वह देखो, सब प्रकारसे प्रबन्ध करके रखा गया है। दीनूका लड़का दुःखी अभी ही मार डालेगा। जैसा भी हो, मान लिया भट्टाचार्य महाशय विषयी आदमी हैं। धनके लोभमें उन्होंने हमलोगोंको बेच दिया है। परन्तु तुम लोगोंके महंत तो विषयी नहीं हैं; वे परम वैष्णव हैं। उन्होंने तुम्हें क्यों बेंचा। जीवहिंसा करनेकी उन्हें क्या आवश्यकता थी। वे मछली नहीं खाते; दूसरी बात तुमलोग उनके आश्रित हो। आश्रितोंको इस प्रकार निष्ठुरताके साथ धन प्राप्तिके लिये बेच डाला! उनमें धनका लोभ नहीं है। वे जिससे जो कुछ पाते हैं, उसे भगवानकी सेवामें लगा देते हैं। स्वयं अपने इन्द्रिय-सुखमें नहीं लगाते। उनके जैसा परोपकारी एवं दयालु मनुष्य दूसरा नहीं दिखलायी पड़ता, फिर भी उन्होंने ऐसा अन्याय कर्म क्यों किया?'

कातला बोली—'हाँ बहिन! तुमने जो कुछ कहा है, वह सब ठीक है। परन्तु इसमें एक बात है। मैं इस तालाबमें बहुत दिनोंसे रहती हूँ। महन्तजी कभी-कभी इस तालाबके घाट पर बैठते हैं और अपने शिष्योंसे बहुधा हरिकथाका उपदेश करते हैं। सौभाग्यवश मैंने भी उनमेंसे दो-एक बातें सुनी हैं। वे दो बातें हैं—'अमन्दोदय दया' और 'मन्दोदय दया'। मेरी समझसे ये दोनों बातें तुम्हारे लिये बिलकुल नई ही होंगी। क्योंकि दया भी कहीं मन्द अर्थात् अहितकर होती है? हमें तो ऐसा ही मालूम था कि दया सर्वदा हितकारी होती है। क्या दया भी कभी अहितकर होती है? ऐसा सुनना तो दूर रहा, इसकी कल्पना तक भी नहीं की जा सकती है।'

रोहितने कहा—'क्या कहती हो? तुम्हें बेच कर पैसे कमायेंगे, तुम्हारे प्राण जायेंगे, यह कैसी दया है? इससे तो हमारे भट्टाचार्य महोदय ही भले हैं। सीधी तरह हमें बेंच कर दो पैसे कमाते हैं और सुखसे अपना जीवन बिताते हैं। धरमका नगाड़ा पीट कर ढोंग तो नहीं रचते। जभी हम भट्टाचार्यके तालाबमें आयी थीं, तभी हमने यह निश्चय कर लिया था कि एक-न-एक दिन हम अवश्य बेची जायेंगी और तुम लोगोंने यह सोच रखा था कि अब तो हम मन्दिरके तालाबमें आ गयी हैं और यहाँ आश्रय पा चुकी हैं, अब डर किस बात का? जब तक जीवित हैं, तब तक जालमें पड़ कर तड़पना न पड़ेगा। जीवन शेष होने पर स्वतः इसी तालाबमें देह रह जायगी। बतलाओ, यही सोच रखा था न?'

कातलाने कहा—'यह तो बड़ी सीधी सी बात है। सभी कहते हैं कि निरामिष खाना जीवोंके प्रति दया करना है। माँस-मछली न खाना जीव-हिंसासे मुँह मोड़ना है। दयाका क्या ही उत्तम उदाहरण है। अच्छा बहिन! मनुष्य तो यह भी स्वीकार करते हैं कि केवल मछली ही नहीं, पेड़-पौधे भी जीव हैं। तो फिर पेड़ पौधोंको काटनेसे क्या जीव हिंसा नहीं होती। हम लोगोंका वध करनेसे जो पाप होता है, पेड़-पौधोंको काटनेसे वही पाप होता है। माँस-मछली तथा अन्य पशुओंका वध न करने पर भी शाक आदि खाकर जीवन बितानेसे भी जीव हिंसा और निष्ठुरताका परिचय मिलता है। क्या ये बातें तुम्हारी समझमें नहीं आतीं।'

रोहितने कहा—'बड़े आश्चर्यकी बात है। मुझे तो यही जान पड़ता है कि तुम्हारा दिमाग खराब हो गया है। आज नहीं तो कल मछुओंके हाथ जीवन देना ही पड़ेगा। जो हमारे प्राणोंको लेगा, वह हम लोगों पर दया करनेवाला कैसे कहला सकता है?

दया तो एकमात्र भगवान्‌के दास ही करते हैं। देखो न, दासोंके तालाबकी मछलियाँ कभी नहीं बिकती; उनके प्राणोंके चले जाने पर भी नहीं। वास्तवमें दास बड़े दयालु होते हैं।'

कातला बोली—'बहिन! तुमने जो कुछ कहा है, ठीक ही है। परन्तु हम ऐसे उपादानसे बनी हैं कि मनुष्य हमें पकड़ कर अवश्य ही खायेंगे। यदि जालमें न फँसीं, तो भी एक-न-एक दिन मर कर तालाबके जलके ऊपर उतराना ही पड़ेगा। अब यह बताओ कि एक जालमें पकड़ी गयी और दूसरी तालाबके पानीमें मरी, इन दोनोंने मछलीका जन्म पाकर क्या लाभ उठाया; केवल तालाबकी मिट्टी, छोटी-छोटी मछलियाँ और मनुष्यका थूक-खँखार और सड़े-गले माँसको छोड़ कर उन्हें क्या मिला? बहिन! अब तुम्हीं बतलाओ, हम लोगोंका जन्म सर्वथा व्यर्थ हुआ या नहीं। इस शरीरको मनुष्य खाते हैं, उनका शरीर हृष्ट-पुष्ट होता है, उनकी तृप्ति होती है—मांसाहारी मनुष्योंको ऐसी मान्यता है। यद्यपि यह बात बिलकुल गलत है; फिर भी यदि हम इसे सत्य मान लें, तो कोई बात नहीं, क्योंकि हमारा यह अनित्य और अवश्य मरणशील शरीर दूसरोंके काम आ गया। अब हमें देखना है कि इस शरीरसे हमारा किसी प्रकार चरमकल्याण हो सकता है या नहीं? मनुष्य शरीरमें यह सम्भव है—इसमें तो कोई सन्देह ही नहीं है। परन्तु मनुष्य शरीर प्राप्त करके भी जो लोग चरमकल्याणका साधन नहीं करते, विषय भोगमें ही फँसे रहते हैं, उनको पुनः-पुनः जन्म-मरणके चक्करमें पड़ कर चिरकाल तक दुःख भोग करना पड़ता है। ये लोग मनुष्य देह पाकर इस जन्ममें हम लोगोंको खायेंगे और अगले जन्ममें वे मछली आदिका शरीर पायेंगे और हम मनुष्य बन कर उनको खायेंगी। इस प्रकार सभी जीव हिंसाके श्रोतमें बह रहे हैं।'

रोहितने बीच ही में कातलाकी बात काट कर कहने लगी—'बहिन अब तो तुमने मुझे एक विकट समस्यामें डाल दिया। तुम भी मरोगी और मैं भी मरूँगी। मृत्युके हाथसे छुटकारा नहीं मिल सकता। अच्छा, अब तुम्हीं बतलाओ कि इन नीच योनिमें ऐसा कौन सा काम किया जाय, जिससे हमारा उद्धार हो, हम जन्म-मरणके प्रवाहसे बच जाय और नित्यकालके लिये हमारा दुःख दूर हो जाय?'

कातलाने कहा—'देखो, हमलोगोंके शरीरके वजनके अनुसार कुछ मूल्य होता है। उस धनको मनुष्य अपने भोगोंमें लगाता है, खाता-पीता है और भोग करता है। यदि सौभाग्यवश कोई ऐसे दयालु सज्जन मिल जाँय, जो उस धनको मनुष्यके भोगमें न लगाकर भगवानकी सेवामें लगा दें, तो उससे हम लोगोंकी महान सुकृति हो जायगी और उस सुकृतिके फलस्वरूप अगले जन्ममें हम दुर्लभ मनुष्य जन्म पायेंगी तथा अत्यन्त दुर्लभ सत्सङ्गकी प्राप्ति होगी, जिससे हम सहज ही भवसागरको पार कर चरम कल्याणको प्राप्त कर सकेंगी।'

कातलाकी बात सुनकर रोहितने बड़ी प्रसन्नतासे कहा—'तुम ठीक कह रही हो। यह उत्तम बात है। मैं समझ गयी। महन्तजी परम दयालु हैं। उनकी दयालुतामें मुझे अब तनिक भी संदेह नहीं रहा।

(३)

"खट् खट्, खट्" नीरव रजनीकी निस्तब्धता भेद कर सहसा खड़ाऊँके शब्दने मेरे कानोंमें प्रवेश किया। मैंने पीछे मुड़ कर देखा महन्तजी आ रहे हैं। मैंने उठ कर उनके चरणोंमें दण्डवत प्रणाम किया। उन्होंने स्नेहसे मेरे कन्धों पर हाथ रख कर कहा—'क्यों जी शान्तिराम! इतनी रातमें अकेले घाट पर बैठे क्या करते हो? क्या तालाबकी मछलियोंसे बातें कर रहे हो?'

मैंने नम्रता पूर्वक उत्तर दिया—'महाराज! आप बिलकुल ठीक कह रहे हैं। मैं मछलियोंकी बातें सुन रहा था।'

महन्तजी बिना कोई उत्सुकता प्रकाश किये बोले—'क्या सुन रहे थे?'

मैंने दोनों मछलियोंकी सारी बातें ज्यों-की-त्यों उनसे कह सुनाई । सब वृतान्त सुन कर महन्तजीने बड़े ही गम्भीर होकर कहा—'शान्ति ! अनेक पहाड़ों और जङ्गलोंमें भ्रमण कर बड़े कष्ट उठा कर तुमने एक अद्भुत विद्या सीखी है—इसमें संदेह नहीं । परन्तु इस तुच्छ कातलाकी बात तुमने कुछ समझी है या नहीं, इसमें मुझे सन्देह है । मछलियोंकी भाषा सीखो या पेड़ोंकी भाषा सीखो, उससे कोई लाभ नहीं है । पहले अपनी भाषाको समझना क्या स्वयं सीखा है ? उस छोटीसी मछलीने जो कुछ कहा है, उसका बड़ा ही गूढ़ तात्पर्य यह है कि पुञ्ज-पुञ्ज सुकृतियोंके फलसे उस मछलीने गोपालजीके तालाबमें जन्म लिया है । उसने जीवन भर गोपालजी की सेवाका जल स्वच्छ रखा है, जीवन भर वैष्णवोंका देव दुर्लभ उच्छिष्ट—महा महाप्रसाद खाया है और अन्तिम समयमें अपने शरीरकी भी श्रीभगवान्‌की सेवामें अर्पण करनेका सौभाग्य प्राप्त किया है । अब तुम समीपके दूसरे तालाबकी मछलियोंके परिणामकी चिन्ता करो ।'

महन्तजीकी बातोंको सुन कर मैं बड़ी उलझनमें पड़ गया । मैंने हाथ जोड़ कर कहा—'महाराज ! मैं इस रहस्यपूर्ण बातको समझ नहीं सका । आप इसे स्पष्ट रूपमें बतलानेकी कृपा करें' । जिस कार्यमें प्रकट रूपमें हिंसा और अपकार देखा जाता है, उसे अहिंसा और उपकारका कार्य कैसे माना जाय—यह बात मेरी समझमें नहीं आती ।'

महन्तजी पहलेकी तरह ही गम्भीर होकर बोले—'वास्तवमें यह बड़ा ही रहस्यमय विषय है । मनुष्य जड़ीय बुद्धि और जड़ीय इन्द्रियोंके द्वारा इस विषयको समझ नहीं सकता । जो लोग ऐसे चरम उपकारके कार्यमें निरत हैं, जो जीवोंके जन्म-जन्मान्तरोंकी दुर्दशाके मूल कारणका विचार कर जीवोंके अनादि-कालसे चलते आ रहे दुःखके स्रोतको सदाके लिये बन्द कर इन्हें परमानन्द प्रदान करनेके लिये सर्वदा उत्सुक है, जिनकी दयामें अहितकी तनिक भी सम्भावना नहीं होती अर्थात् जिनकी दया 'अमन्दोदया दया' होती है, उनकी दयासे ही इस तत्त्वमें प्रवेश किया जा सकता है । स्वयं खाऊँगा या मेरे कोई प्रियजन खायेंगे इस विचारसे फल या शाक खाना और माँस या मछली खाना दोनों ही जीव हिंसामें शामिल हैं । दुर्लभ मनुष्य जन्म पाकर परमार्थसे विमुख होकर केवल विषय भोगोंमें लिप्त रहना, पुत्र-परिवार आदिको भोगबुद्धिसे दर्शन करना, अपने स्वार्थोंके पूर्तिके लिये अपना मान कर उनका भलीभाँति पालन पोषण करना आदि समस्त कार्य जीव हिंसाके श्रेष्ठ उदाहरण हैं । यदि इन बातोंको सुन कर तुम्हें कोई संशय हुआ हो तो उसे दूर करनेके लिये सरलतापूर्वक शुद्ध वैष्णवोंके निकट जाकर उनको अपनी सेवासे प्रसन्न कर जिज्ञासा करना । वे तुम्हें अनुगत जान कर उपदेश प्रदान करेंगे । उनके उपदेशसे तुम्हारा परम कल्याण हो जायगा ।

काल फिरत सिर ऊपर भारौ

' क्यौं तू गोविन्द नाम बिसारौ ?
अजहूँ चेति, भजन करि हरि कौ, काल फिरत सिर ऊपर भारौ ॥
धन-सुत-दारा काम न आवैं, जिनहि लागि आपुनपौ हारौ ।
सूरदास भगवंत-भजन बिनु चल्यौ पछिताइ, नयन जल ढारौ ॥

उपनिषद् वाणी

तैत्तिरीयोपनिषद् (शिक्षावल्ली)

(पूर्व-प्रकाशित वर्ष ६, संख्या ४, पृष्ठ ८३ से आगे)

तैत्तिरीय उपनिषद्के तीन विभाग हैं। पहला विभाग-शिक्षावल्ली, दूसरा विभाग-ब्रह्मानन्दवल्ली और तीसरा विभाग-भृगुवल्ली। शिक्षावल्लीमें बतलायी गयी शिक्षाके अनुसार जीवन व्यतीत करने से इहलोक और परलोकमें सब जगह सर्वोत्तम फलकी प्राप्ति होती है और ब्रह्मविद्या प्राप्त करनेमें समर्थ हुआ जा सकता है। सर्व-प्रथम प्रार्थना है—आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक शक्तिके रूपमें एवं उनके अधिष्ठातृ-देवता मित्र, वरुणआदिके रूपमें जो सबके अन्तर्यामी परमेश्वर हैं, वे सर्वप्रकारसे हमारा कल्याण करें। उनको नमस्कार है। वायुरूपी परमेश्वरको नमस्कार है। वे समस्त प्राणियोंके प्राण-स्वरूप हैं। उनका एक नाम 'ऋत' भी है समस्त प्राणियोंके लिये जो कल्याणकारी नियम है, उस नियमरूप रूप 'ऋत' के वे अधिष्ठाता हैं। उनका एक दूसरा नाम सत्य भी है। वे सत्य (यथार्थ भाषण) के अधिष्ठता हैं। वे अन्तर्यामी परमेश्वर हमें सत्य-भाषण और सत् आचरण करनेकी शक्ति प्रदान करें।

वैदिक शब्दोंके उच्चारणमें (स्वर और व्यंजन वर्णोंका उच्चारण करते समय) शुद्ध उच्चारणका ख्याल रखना चाहिए। उच्चारणकी गड़बड़ीसे विपरीत फल होता है। इसलिये स्वर और व्यंजन वर्णोंका स्पष्ट उच्चारण करना चाहिए। इसलिये वर्णोंका स्पष्ट उच्चारण करनेके लिये स्वर, मात्रा, सन्धि आदि विषयोंकी शिक्षाकी आवश्यकता है। इसी प्रकार बोलते समय किस वर्णका किस जगह क्या भाव प्रकट करनेके लिये उच्च स्वरसे उच्चारण करना उचित है, किसका मध्य स्वरसे और किसका निम्न स्वरसे उच्चारण करना उचित है—इस बातकी पूरी पूरी शिक्षा ग्रहण करनेकी आवश्यकता है। 'व' के स्थान पर 'ब' और दन्त्य 'स' के स्थानमें 'श' या 'ष' का उच्चारण नहीं करना चाहिये। वर्णोंके बीचमें जो सन्धि होती है, उसे 'संहिता' कहते हैं। व्यापक रूप धारण करने पर संहिताको 'महासंहिता' कहते हैं। स्वर, व्यंजन, स्वादि, विसर्ग और अनुस्वारके भेद संधि पाँच प्रकारकी होती है। महासंहिताके भी पाँच आश्रय हैं—लोक, ज्योति, विद्या, प्रजा और आत्मा (शरीर)। संधिके चार अंश हैं—पूर्ववर्ण, परवर्ण, दोनोंके मेलसे होनेवालारूप और दोनोंका संयोजक नियम। इसी प्रकार लोक आदिके भी चार भाग हैं—पूर्वरूप, उत्तररूप, संधि (दोनोंके मेलसे बना रूप) और संधान (संयोजक)। पृथ्वी अर्थात् यह लोक ही पूर्वरूप है। स्वर्ग ही उत्तर रूप है। आकाश या अन्तरिक्ष ही दोनोंकी संधि है एवं वायु ही इनका संयोजक है।

ज्योति-विषयक संहिता—अग्नि पूर्वरूप है, आदित्य उत्तररूप है, दोनोंसे उत्पन्न होनेके कारण मेघ ही संधि है तथा विद्युत्-शक्ति ही इस संधिकी हेतु (संधान) है।

विद्या सम्बन्धि संहिता—आचार्य पूर्वरूप है, गुरुकुलमें बास करनेवाला श्रद्धालु शिष्य ही उत्तर-रूप है, विद्या संधि है तथा उपदेश ही संधान है।

प्रजा सम्बन्धी संहिता—माता पूर्वरूप है, पिता उत्तर रूप है; दोनों के मिलनेसे उत्पन्न प्रजा ही संधि है तथा संतानोत्पत्तिके अनुकूल व्यापार—सहवास करना ही संधान है।

आत्म-विषयक संहिता—शरीरका प्रधान अङ्ग 'मुख' होनेके कारण मुखके ही अवयव संहिता विभागमें दिखलाये गये हैं—अधरोष्ठ पूर्वरूप है, ऊपरका होठ ही उत्तर रूप है, वाणी ही सन्धि है तथा जिह्वा ही संधान है, क्योंकि जिह्वाके बिना एक शब्द भी बोला नहीं जा सकता है।

उपरोक्त पाँच विषयोंका यहाँ संकेतमात्र दिया गया है। सद्गुरुके उपदेश ग्रहण कर ठीक-ठीक आचरण करनेसे इच्छानुसार फलकी प्राप्ति हो सकती है। इन पाँच प्रकारकी महासंहिताओंको भलीभाँति जान लेने पर इच्छानुसार सन्तान, ब्रह्मतेज, आवश्यकीय भोग्यपदार्थ, स्वर्गादि उत्तम लोकसमूह और ज्ञानविज्ञान युक्त वाक्शक्ति आदिकी प्राप्ति हो सकती है। 'ओम्' यह परमेश्वरका नाम वेदोक्त जितने भी मन्त्र हैं, उन सबमें श्रेष्ठ है और सर्वरूप है। इसलिये प्रत्येक मन्त्रके आदिमें ओंकारका उच्चारण किया जाता है। इस ओंकारके उच्चारणसे सम्पूर्ण वेद उच्चारणका फल पाया जा सकता है। नामी परमेश्वरका 'ओम्'—यह नाम सबसे मुख्य रूपमें प्रकटित है। ओंकार नाम है, परमेश्वर नामी हैं। अतः दोनों परस्पर अभिन्न हैं। वे सबके परमेश्वर होनेके कारण 'इन्द्र' कहलाते हैं। 'इन्द्र'का अर्थ ऐश्वर्यवान होना है। उनमें सम्पूर्ण ऐश्वर्य होनेके कारण 'इन्द्र' नामसे प्रसिद्ध हैं।

भूः, भुवः और स्वः—ये तीन प्रसिद्ध व्याहृतियाँ हैं। परन्तु महः इन तीनोंसे श्रेष्ठ है। इसका रहस्य सबसे पहले महाचमसके पुत्रने जाना था। महः व्याहृतिको ब्रह्मका स्वरूप समझना चाहिए। 'भूः'—पृथ्वी है, भुवः—अन्तरिक्ष अर्थात् आकाश है, स्वः—स्वर्ग है एवं महः—सूर्य है; क्योंकि सूर्यसे ही सब लोक महिमान्वित हो रहे हैं। भूः, भुवः और स्वः—ये तीनों व्याहृतियाँ उन परमेश्वरके विराट शरीर स्थूल-ब्रह्माण्डको जना देती हैं और 'महः' इस विराट शरीरको प्रकाशित करनेवाले नामस्वरूप हैं। 'महः' सूर्यका नाम है। सूर्यके भी आत्मा परमेश्वर हैं। अतएव वे परमेश्वर ही सूर्य द्वारा सबको प्रकाशित करते हैं।

अग्नि देवता वाणीका अधिष्ठाता है और वाणी भी प्रत्येक विषयको व्यक्त कर स्वयं प्रकाशित होनेसे ज्योतिके अन्तर्गत मानी जाती है। भुवः वायु है। वायुदेवता त्वचा (त्वक् इन्द्रिय) का अधिष्ठाता है और त्वक् इन्द्रिय स्पर्शको प्रकाशित करनेवाली ज्योति है। 'स्वः'का अर्थ है, सूर्य। सूर्य चक्षुका अधिष्ठाता है। चक्षु सूर्यकी सहायतासे रूपको प्रकाशित करती है; इसलिये वह ज्योतिके अन्तर्गत मानी गयी है। 'महः' यह चौथी व्याहृति ही चन्द्रमा है। चन्द्रमा मनका अधिष्ठाता है। मनकी सहायतासे ही समस्त इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयको प्रकाशित करनेमें समर्थ होती हैं। अतएव समस्त इन्द्रियोंमें तथा ज्योतियोंमें मन और चन्द्रमाको प्रधान समझना चाहिये।

यहाँ वेदोंके विषयमें व्याहृतियोंके प्रयोग द्वारा परमेश्वरकी उपासनाका प्रकार बतलाते हैं। 'भूः' ऋग्वेद है, 'भुवः' सामवेद है, 'स्वः' यजुर्वेद है एवं 'महः' ब्रह्म है; क्योंकि ब्रह्मसे ही समस्त वेद महिमान्वित हैं। सम्पूर्ण वेदोंमें वर्णित समस्त ज्ञान परब्रह्म परमेश्वरसे ही प्रकट और उन्हींसे व्याप्त है। तथा उन परमेश्वरका ही तत्त्व वेदोंमें वर्णित होनेसे वे ही महिमान्वित हैं। इसके बाद प्राणोंके विषयमें इन व्याहृतियोंका प्रयोग कर उपासनाकी रीति बतलाते हैं। 'भूः' प्राण है, 'भुवः' अपान है, 'स्वः' व्यान वायु है और अन्न ही महःरूप चौथी व्याहृति है; क्योंकि अन्न ही समस्त प्राणियोंका पोषण करता है तथा उनकी वृद्धिके कार्यमें प्रधान सहायक होता है।

हृदयके भीतर अंगुष्ठमात्र परिमाणवाले आकाशमें विशुद्ध प्रकाशस्वरूप अविनाशी अन्तर्यामी पुरुष विराजमान हैं। उन अन्तर्यामी पुरुषका दूसरा नाम मनोमय पुरुष भी है। उन अन्तर्हृदयमें विराजमान अन्तर्यामी पुरुषको प्रत्यक्ष देखनेवाला जीव तालुओंके बीचो-बीच 'घाँटी'से आगे ब्रह्मरन्ध्रमें स्थित सुषुम्ना नाड़ीके द्वारसे बाहर निकल कर अग्नि, वायु और

सूर्यादिमें स्थित होता हुआ ब्रह्मलोकमें जाता है। वहाँ पहुँच कर वह महापुरुष (जीव) स्वराज्यको प्राप्त होता है अर्थात् उसके ऊपर प्रकृतिका अधिकार नहीं होता। वह स्वयं समस्त इन्द्रियाधिपतियोंका स्वामी हो जाता है। अब प्राप्तव्य ब्रह्म कैसे हैं; यह बतलाते हैं। वे ब्रह्म आकाशके समान, सर्वव्यापी, सत्यरूप, मनको आनन्द प्रदान करनेवाले और अखण्ड शान्तिके भण्डार स्वरूप हैं।

पृथ्वीलोक, अन्तरिक्षलोक, स्वर्गलोक, पूर्वपश्चिम आदि दशों दिशाएँ, अग्नि, वायु, सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, जल, औषधि वनस्पतियाँ और पाँचभौतिक शरीर—यह सब कुछ आधिभौतिककी श्रेणीमें आते हैं। शरीरके भीतर स्थिर रहने वालेपदार्थ आध्यात्मिककी श्रेणीमें परिगणित होते हैं। उनमें प्राण और अपान आदि पंचवायु भी आते हैं। चर्म, माँस, नाड़ी, हड्डी, मज्जा—ये सब शरीरगत धातु हैं। इन आध्यात्मिक और आधिभौतिक पदार्थोंमें परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। इस तत्त्वको जाननेसे आध्यात्मिक उन्नति होती है।

यह प्रत्यक्ष दिखलायी पड़नेवाला जगत् ब्रह्मका स्थूल रूप है। ऊँ-कार ही ब्रह्म है। 'ऊँ' यह अनुकृति अर्थात् अनुमोदन सूचक है अर्थात् जब किसी बातका अनुमोदन करना होता है, तब केवल 'ऊँ' उच्चारण द्वारा उस बातका अनुमोदन कर दिया जाता है। सामवेदका गान करनेवाले भी सबसे पहले 'ऊँ' का उच्चारण कर वेदका गान किया करते हैं। यज्ञादि कर्मोंमें ऋत्विक 'ऊँ' उच्चारण पूर्वक मंत्रोंका पाठ करना आरम्भ करते हैं। ब्रह्मा 'ऊँ' उच्चारण-पूर्वक यज्ञादि कर्मोंका अनुमोदन करते हैं। अध्ययन करनेवाला ब्राह्मण ब्रह्मचारी भी सबसे पहले 'ऊँ' उच्चारण करके ही अपना पाठ आरम्भ करते हैं। इस प्रकार परमेश्वरके नाम रूप 'ऊँ' की महिमा बतलायी गयी है।

शास्त्रका अध्ययन और अध्यापन बहुत ही हितकर होता है। अध्ययन और अध्यापन करनेवालोंको अध्ययन-अध्यापनके साथ-साथ यथायोग्य सदाचारका पालन, सत्य भाषण, स्वधर्मका पालन करनेमें बड़े-से-बड़ा कष्ट सहना, इन्द्रियोंको वशमें रखना, मनको वशमें रखना, अग्निहोत्रके लिये अग्निको प्रदीप्त करना, उसमें हवन करना, मानवोचित व्यवहार करना, अतिथियोंकी सेवा करना, शास्त्रोक्त विधियोंके अनुसार गर्भाधान करना, ऋतुकालमें नियमित रूपसे स्त्री-सहवास करना—इस प्रकार श्रेष्ठ कर्मोंका अनुष्ठान करना आवश्यक कर्त्तव्य है।

त्रिशंकु नामक ऋषिने परमात्माको प्राप्त होकर यह अनुभव प्राप्त किया था—मैंने प्रवाह रूपमें अनादि कालसे चले आते हुए इस जन्म-मृत्यु रूप संसारवृक्षका उच्छेद कर दिया है। मेरी कीर्त्ति पर्वत-शिखरकी भाँति उन्नत और विशाल है—मैं रोग और शोक आदिसे मुक्त हूँ—सर्वदा अमृत-स्वरूप हूँ और परमानन्दरूप अमृत-समुद्रमें निमग्न और श्रेष्ठ धारणायुक्त बुद्धिसे सम्पन्न हूँ। जो मनुष्य परमेश्वरकी उपासना करेगा वह ऐसी अवस्थाको प्राप्त हो सकेगा।

आचार्य उपकुर्वाण ब्रह्मचारीको वेदका भलीभाँति अध्ययन करा कर समावर्तन-संस्कारके समय इस प्रकार उपदेश करते हैं—पुत्र! सदा सत्य भाषण करना। अपने वर्ण-आश्रमके अनुकूल शास्त्र-सम्मत धर्मका अनुष्ठान करना। वेद-अध्ययन, संध्या-वंदना गायत्री-जप और भगवन्नाम कीर्तनमें कभी आलस्य न करना। गुरुजीको दक्षिणाके रूपमें यथायोग्य धन देना। शास्त्र-विधिसे विवाह कर संतान उत्पन्न करना। व्यर्थकी बातोंमें वाणीकी शक्तिको नष्ट नहीं करना अथवा हाँस-परिहासमें भी झूठ न बोलना। लौकिक और शास्त्रीय शुभ कर्मोंकी अवहेलना नहीं करना—उनका त्याग नहीं करना। लौकिक उन्नतिके लिये धन-सम्पत्तिकी वृद्धि करना। अग्निहोत्रादि यज्ञकर्म देव-पितृ कार्योंके करनेमें आलस्य या अवहेलना न करना। माता-पिता, आचार्य और अतिथिको देवताके समान मानना। निर्दोष कर्मोंका अनुष्ठान करना। भूल कर भी स्वप्नमें भी निषिद्ध

कर्म न करना । ब्राह्मण आदि श्रेष्ठ व्यक्ति यदि घर पर आवें, तो आवश्यक चीजोंके साथ उनका यथा-योग्य आदर-सत्कार करना । शक्तिके अनुसार दान देना । यह ख्याल रखना कि दान अश्रद्धाके साथ न दिया जाय, बल्कि भय और लज्जाके साथ दिया जाना चाहिये । अर्थात् अपनेमें दानीका अभिमान न रख कर शास्त्रकी आज्ञा मान कर वैसा कर रहा हूँ—ऐसा समझे । शास्त्रकी आज्ञासे डरकर दान करना । मैं जो कुछ दे रहा हूँ, वह बहुत ही थोड़ा है—ऐसा मानकर लज्जापूर्वक दान करना । सदा विवेकके साथ पात्र-अपात्रका विचार कर दान देना । इन कर्मोंके अनुष्ठानमें कोई शङ्का उत्पन्न होने पर उपयुक्त ज्ञानी पुरुषके आचरणका अनुसरण करना । शास्त्रकी यही आज्ञा है । उपयुक्त माता-पिता और आचार्यका यही उपदेश है । इसे ईश्वरकी आज्ञा समझना ।

—त्रिदण्डिस्वामी श्रीमद्भक्ति भूदेव श्रौती महाराज

श्रीविग्रह-तत्त्व

[ॐविष्णुपाद १०८ श्रीश्रीमद्भक्तिप्रज्ञान केशव गोस्वामी महाराजजीके एक प्रवचनके आधार पर]

भगवान्‌का विग्रह कहनेसे मायासे अतीत उनके नित्यकालके अप्राकृत सच्चिदानन्द रूपका बोध होता है । सच्चिदानन्द कहनेसे सम्पूर्ण सत् अर्थात् सत्ता (अस्तित्व), सम्पूर्ण ज्ञान और सम्पूर्ण आनन्दका बोध होता है । शास्त्रोंमें सर्वत्र ही भगवानके सच्चिदानन्द विग्रहका उल्लेख है, साथ ही उन सच्चिदानन्द विग्रहकी पूजाका विधान भी है ।

कुछ लोग परतत्त्ववस्तुको निराकार, निर्गुण निःशक्तिक और अव्यय मानते हैं । उनके विचारसे परतत्त्वका कोई श्रीविग्रह या रूप नहीं है । वे कहते हैं—"रूप होनेसे उसका जन्म और मरण स्वीकार करना पड़ेगा एवं वह सर्वव्यापी नहीं हो सकेगा, परन्तु शास्त्रोंमें ब्रह्मको जन्म-मरणरहित और सर्वव्यापी कहा गया है ।" अब यदि हम निराकारवादियोंके विचार पर बारीकीसे विवेचन करें तो देख पायेंगे कि उनकी सारी युक्तियाँ और विचार स्वकपोलकल्पित एवं सर्वथा निराधार हैं ।

वेद, वेदान्त उपनिषद् और पुराणोंके अनुसार यह निर्विवाद सत्य है कि दिखलायी पड़नेवाले जगत् रूप कार्यके कारण परमेश्वर हैं । कारण और कार्य-विचार (Cause and effect theory) के अनुसार कारण और कार्यमें अविच्छेद्य सम्बन्ध है । कार्यमें जो कुछ दिखलायी पड़ता है, कारणमें वह सूत्र रूपमें अवश्य है । जो कारणमें नहीं है, वह कार्यमें कदापि सम्भव नहीं है । कतिपय दार्शनिकोंका मत यह है कि कारणमें कोई चीज नहीं रहने पर भी कार्यमें उसकी स्थिति सम्भव है । परन्तु इसका एक भी दृष्टान्त संसारमें नहीं है । अधिकन्तु उपरोक्त दार्शनिक पण्डितोंके विचारमें दोष यह है कि बिना कारणसे ही कार्य होना स्वीकार करनेसे प्रत्येक चीजसे सब कुछ उत्पन्न हो सकता है । जैसे—रेतीको घानीमें पीस कर तेल निकाला जा सकता है; पानीसे घी निकाला जा सकता है; बबूलके पेड़से आमका फल पाया जा सकता है । परन्तु ऐसा होता नहीं है । वास्तविकता यह है कि कारणमें जिस पदार्थकी सत्ता (Potency) होती है, उससे वही चीज निकल सकती है । जैसे सरसों और तिल आदिके बीजोंमें तेलकी सत्ता होती है, इसीलिये उनसे तेल निकलता है और इसीलिये आमके बीजसे कटहलका पेड़ न उग कर आमका पेड़ ही उगता है ।

अस्तु जगत्‌रूप कार्यमें जितने भी आकार दिखलायी पड़ते हैं वे सारे-के-सारे आकार कारणरूप ब्रह्ममें अवश्य ही विद्यमान हैं । यदि यह बात न

होती और ब्रह्म निराकार होता तो उससे विभिन्न आकारोंसे भरा हुआ यह जगत् नहीं उत्पन्न होता। अतः कार्यकारणके विचारसे भगवान्‌का श्रीविग्रह और उनमें, जगतमें दिखलायी पड़नेवाले असंख्य आकारोंकी सत्ताओंकी विद्यमानता अवश्य ही प्रमाणित होती है।

दूसरी बात, यदि ब्रह्मको निराकार और निर्विशेष आदि माना जाय और उस निराकार-निर्विशेष ब्रह्मसे जगत्‌की उत्पत्ति मानी जाय, तो इसका तात्पर्य यह हुआ कि Nothing से Something or Everything पैदा हो सकता है अथवा Negative से Positive पैदा हो सकता है; परन्तु ऐसा नहीं होता। Something or Positive से ही Nothing or Negative की उत्पत्ति देखी जाती है। अतएव मूल कारणस्वरूप भगवान् Nothing या Negative नहीं हैं, बल्कि Wholething (पूर्णवस्तु) या Positive हैं अर्थात् उनका श्रीविग्रह है, वे निराकार नहीं हैं। Negative अर्थात् असत् वस्तुकी तो स्थिति ही नहीं है—"नासतो विद्यते भावो" (गीता) अर्थात् असत वस्तुकी सत्ता या स्थिति नहीं है। अतएव भगवान्‌का श्रीविग्रह अवश्यमेव सिद्ध है।

यदि कोई यह कहे कि श्रुति आदिमें कहीं-कहीं परब्रह्मको निराकार, निर्गुण, अरूप और निर्विशेष आदि कहा गया है, तो इससे भी यह सिद्ध नहीं होता कि ब्रह्म सविशेष नहीं है। क्योंकि आप ही विचार करें कि निर्गुण, निराकार, अरूप और निर्विशेष आदि निषेधवाचक शब्दोंके मूल (Root) क्या हैं? क्या ये मौलिक शब्द हैं? नहीं, ये स्वयं मौलिक शब्द नहीं हैं। आकारसे निराकार, रूपसे अरूप, गुणसे निर्गुण और विशेषसे निर्विशेष आदि निषेधवाचक शब्द बने हैं। अतएव आकार, रूप, गुण और विशेष ही मौलिक शब्द हैं। आप पूछ सकते हैं कि यदि परतत्त्व विग्रहवान, रूपवान, गुणवान और सविशेष हैं, तब उनको निराकार, निर्गुण आदि क्यों कहा गया? इसका उत्तर उन शास्त्रोंने ही दे दिये हैं—

अचिन्त्या खलु भावा न तांस्तर्केण योजयेत्।
प्रकृतिभ्यः परं यत्तु तदचिन्त्यस्य लक्षणम्॥
(महाभारत भी० प० ५।१२)

तात्पर्य यह कि परतत्त्वको मायासे अतीत होनेके कारण अचिन्त्य आदि कहा गया है। वस्तुतः भगवान् अप्राकृत साकार, अप्राकृत सर्वगुणाधार, अप्राकृत रूपवान एवं अप्राकृत सविशेष आदि हैं। भगवानके उस सविशेष या सच्चिदानन्द रूपमें प्रकृति या मायाका लेशमात्र भी कार्य नहीं है। इसी बातको समझानेके लिये शास्त्रोंमें विशेष-विशेष स्थानोंमें निराकार आदि कहा गया है। दूसरी बात यह कि जिस प्रकार त्रिकोणमितिमें दो समान त्रिभुजोंको Negative पद्धति (मान लिया कि ये बराबर नहीं हैं) द्वारा एक समान प्रमाणित किया जाता है, उसी प्रकार उपनिषदादि शास्त्रोंमें Negative पद्धतिसे निराकार आदि निषेधवाचक शब्दों द्वारा शक्तिमान सविशेष ब्रह्मकी स्थापना की गयी है।

कुछ लोग यह कहते हैं कि जगत् मिथ्या है, यह अज्ञानसे कल्पितमात्र है। अतः जितने भी रूप हैं, वे सभी मायिक हैं; मायातीत ब्रह्मका कोई भी रूप कदापि स्वीकृत नहीं हो सकता है। रूपवाले सारे पदार्थ मिथ्या हैं। कोई-कोई, रूपवाले समस्त पदार्थोंको उनसे कुछ आगे बढ़ कर उदारतापूर्वक नश्वर बतलाते हैं, अतएव उनकी दृष्टिसे ब्रह्मका मिथ्यारूप या नश्वररूप मानना युक्तिसङ्गत नहीं होता। परन्तु विचार करने पर उपरोक्त मत सर्वथा भ्रान्त जान पड़ते हैं। मान लो जगत् मिथ्या है; अब जगत्‌में स्थित जगतको मिथ्या कहनेवाला वह व्यक्ति भी झूठा ही हुआ। झूठा या मिथ्या व्यक्तिका कथन भी सब तरहसे झूठा हुआ। इसलिये जगत् भी सत्य हुआ और भगवानका अप्राकृत रूप भी सिद्ध हुआ।

दूसरी बात, जो लोग यह दलील पेश करते हैं कि "सर्वव्यापी ब्रह्मका रूप कैसा? रूप तो एकदेशीय

है; वह सर्वव्यापी कैसे हो सकता है ? अतएव परतत्त्व निराकार ही होना चाहिए"—इस शङ्काका समाधान यह है कि भगवान सर्वव्यापी होनेके साथ-ही-साथ सर्वशक्तिमान भी तो हैं। तब अपनी अघटनघटनपटीयसी अचिन्त्यशक्ति द्वारा क्या वे साकार नहीं हो सकते ? तथा साकार होकर भी अपनी उसी शक्तिके प्रभावसे क्या वे सर्वव्यापी नहीं रह सकते ? यदि वे साकार और सर्वव्यापी नहीं हो सकते तो वे सर्वशक्तिमान रहे कहाँ ? अतएव तत्त्वज्ञानके अभावके कारण ही मूढ़ व्यक्तियोंको पूर्वोक्त प्रकारका भ्रम होता है। वास्तवमें परब्रह्म परमेश्वर सविशेष साकार होते हुए भी अपनी अचिन्त्यशक्तिके प्रभावसे कभी-कभी शुष्क ज्ञानियोंकी दृष्टिमें अङ्गज्योतिके रूपमें निर्विशेष निराकार जैसे दिखलायी पड़ते हैं और उसी अचिन्त्यशक्तिके प्रभावसे वे अज होकर भी यशोदाके नित्यपुत्र हैं। उनकी अचिन्त्य शक्तिके प्रभाव उनमें समस्त विरोधी भावोंकी भी सुन्दर रूपसे स्थित सम्भव है।

निराकार वस्तुकी उपासना कदापि सम्भव नहीं है। कुछ दार्शनिकोंने निराकार या अरूपकी उपासनाकी व्यवस्था दी है। उनके विचारके अनुसार रूप या आकार होनेसे ही वह वस्तु हेय हो गयी और निराकार होनेसे ही वह वस्तु निर्गुण और अप्राकृत है। अतएव निराकारकी उपासना ही श्रेष्ठ साधन है। परन्तु हमारा कहना है—उक्त विचार ठीक नहीं है। प्रकृतिके अधीन या पाँच भौतिक द्रव्योंमें वायु और आकाश निराकार है। परन्तु ऐसा होने पर भी वायु और आकाशको कोई अप्राकृत और सच्चिदानन्द स्वीकार नहीं करता। ये दोनों ही हेय और नश्वर हैं—यह सर्ववादी सम्मत है। अतएव निराकार होनेसे ही उसमें पूज्यत्वका आरोप नहीं किया जा सकता। मायावादियों या अद्वैतवादियोंका निराकार आकाशकी तरह होनेसे उसमें हम पूज्यत्वका आरोप नहीं कर सकते। केवल यही नहीं, उनका कल्पित निराकारवाद भी आकाशके समान होनेके अतिरिक्त कोई निर्मल अप्राकृत वस्तु नहीं है। दूसरी तरफ वैष्णवोंका सच्चिदानन्द विग्रह जड़ीय इन्द्रियोंके पकड़में न आने पर भी वह निर्मल, अप्राकृत और प्राकृत गुणोंसे अतीत निर्गुण है। निर्गुण भक्ति द्वारा मुक्त पुरुष उसका दर्शन करते हैं :—

ॐतद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः दिवीव चक्षुराततम् ॥ (ऋग्वेद)

अर्थात् दिव्यसूरी वैष्णवजन अपने अप्राकृत नेत्रोंसे विष्णुके परम पदका सर्वदा दर्शन करते हैं। इसके द्वारा यह स्पष्ट है कि वेद भी परतत्त्वका आकार स्वीकार करते हैं। जो लोग वेदकी इस वाणीको नहीं मानते, वे अवैदिक या नास्तिक हैं—इसमें संदेह ही क्या है ?

कुछ लोग यह कहते हैं कि वेदोंमें श्रीविग्रह या श्रीमूर्त्तिका कहीं भी उल्लेख नहीं है। अतः श्रीमूर्त्तिपूजा अवैदिक है। परन्तु यह बात भी सर्वथा निराधार और भ्रामक है। वेदोंमें सर्वत्र ही भगवान्की श्रीमूर्त्तिका उल्लेख पाया जाता है। उदाहरणके लिये दो एक मंत्र देखिये—

(१) सहस्रस्य प्रतिमा असि। (यजु० १५।६५)

—हे परमेश्वर आप सहस्रोंकी मूर्त्ति हैं।

(२) अर्चत प्रार्चत प्रियमेधासो अर्चत।

(ऋग्वेद ६।५।५८।८)

—हे बुद्धिमान मनुष्यों ! परमेश्वरके श्रीविग्रहका पूजन करो, भलीभाँति पूजन करो।

गीतामें भी भगवानकी श्रीमूर्त्तिकी अवज्ञा करनेवालोंको मूढ़ और नराधम आदि कहा गया है—

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम् ॥

(गीता ९।११)

कुछ लोगोंने ब्रह्मको अव्यय पद कहकर उन्हें निराकार बतलाया है। परन्तु उनकी यह बात भी विचारकी कसौटी पर खरी नहीं उतरती। दार्शनिक कुल चूड़ामणि श्रीजीव गोस्वामीने ब्रह्मको क्लीवलिंग

माना है, उसे अव्ययपद स्वीकार नहीं किया है। उन्होंने समस्त अव्यय पदोंकी एक तालिका दी है; परन्तु उसमें (सूचि) में 'ब्रह्म'—शब्दको नहीं दिया है। अबतक भारतमें एक हजार वैयाकरणिकोंके इतिहास पाये जाते हैं। पाणिनी आदि मनीषियोंने व्याकरण-को वेदांग माना है। अतएव व्याकरणको शास्त्रके अन्तर्गत लिया गया है। इन व्याकरणोंमेंसे किसी भी एक व्याकरणमें 'ब्रह्म' को अव्यय पद नहीं स्वीकार किया गया है। इतना होने पर भी यदि कोई दार्शनिक बलपूर्वक ब्रह्मको अव्यय पद कहे, तो उनका ऐसा कथन सर्वप्रकारेण अयुक्ति संगत और भूल है। श्रीजीवगोस्वामीने "ब्रह्म" शब्दका प्रयोग सभी कारकोंमें दिखलाया है। "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद्विजिज्ञासस्व तद् ब्रह्म।" तै उ. भृ. १) इसमें जिस ब्रह्मसे जगत्की सृष्टि होती है (आपादान कारक), जिस ब्रह्म द्वारा जगत पालित-पोषित होता है (कारण कारक) और जिस ब्रह्ममें जगत प्रलयकालमें प्रविष्ट हो जाता है (अधिकारण कारक), ये तीन कारक जिस ब्रह्ममें हैं, वह कदापि निराकार नहीं हो सकता है। जिस प्रकार "पेड़से फल गिरते हैं।"—इसमें यदि पेड़की सत्ता न मानी जाय तो उससे फल कैसे गिर सकते हैं? अतएव पहले पेड़की सत्ता स्वीकार करके ही उससे फलोंका गिरना सम्भव है।

परतत्त्वके आकारको मानना ही हमारे समाजकी मूलभित्ति है। हिन्दू कौन है? जो परतत्त्वका श्रीविग्रह स्वीकार करता है। जो परतत्त्वका आकार नहीं स्वीकार करते, उन्हें हमारे समाजने अहिन्दू माना है। हिन्दूओंके साथ निराकारवादियोंका खान-पानका अथवा वैवाहिक आदि किसी प्रकारका सबन्ध नहीं है। जैसे मुसलमान, इसाई, बौद्ध, ब्रह्म समाज सिख और कबीर पंथी आदिके साथ हिन्दूओंका खान-पान अथवा वैवाहिक सम्पर्क नहीं हैं। हमारे पूर्वजोंके विचार ही ऐसे थे—

श्रीविग्रह जे ना माने सेई त पाषण्ड।
अस्पृश्य अदृश्य सेई हय यमदण्ड्य॥

(चैतन्यचरितामृत)

हिन्दू सक्सेसन ऐक्टके सम्बन्धमें जब पार्लियामेन्टमें १९५७ ई० की जूलाईमें बहस हो रही थी, उस समय यह प्रश्न उठा था कि आर्यसमाज हिन्दू हैं या अहिन्दू? इन पर यह बिल लागू होगा अथवा नहीं? उस समय बहुतोंने कहा कि ये लोग भगवानकी मूर्ति नहीं मानते, अतएव ये हिन्दू नहीं हैं। परन्तु पीछेसे (in-addition) आर्य-समाजको भी हिन्दू जाति के अन्तर्गत खींच लाया गया, वह भी किसी राजनैतिक उद्देश्यकी पूर्त्तिके लिये।

कुछ लोगोंका ख्याल है, श्रीवेदव्यासने अपने वेदान्त दर्शनमें ब्रह्मका श्रीविग्रह नहीं माना है। परन्तु उनकी ऐसी धारणा निराधार है। इस विषयको मैं श्रीचैतन्य महाप्रभुजीके चरित्रकी दो-एक घटनाओंसे स्पष्ट करूँगा। श्रीचैतन्यमहाप्रभुजी अपनी गृहस्थ लीलामें एक दिन भगवत् आवेशमें होकर परम भक्त श्रीमुरारी गुप्तके घरके भगवत गृहमें पहुँचे और सिंहासनके ऊपर बैठ कर अपना तत्त्व प्रकाश करने लगे। प्रसंगवश वे बड़े ही क्रोधित होकर बोले—मेरा सच्चिदानन्द श्रीविग्रह (रूप) है; परन्तु काशीका प्रख्यात मायावादी पण्डित मेरे अङ्गोंको काट-काट कर खंड-विखण्ड कर रहा है—

काशीते पढ़ाय बेटा प्रकाशानन्द।
सेई बेटा करे मोर अंग खण्ड-खण्ड॥

प्रकाशानन्द उस समयके आचार्यशंकरके सम्प्रदाय के प्रधान आचार्य थे। उनके साठ हजार शिष्य थे। श्रीमन्महाप्रभुजी इतना कह कर ही चुप नहीं रहे। वे संन्यास लेकर काशी पधारे। संयोगवश एक दिन वे प्रकाशानन्द सरस्वतीसे मिले। प्रकाशानन्द सरस्वतीके साथ साठ हजार शिष्य थे। बातों-बातों में प्रबल शास्त्रार्थ छिड़ गया। प्रकाशनन्दने कहा—'मैं ब्रह्मका विग्रह स्वीकार नहीं करता।'

महाप्रभुने नम्रतासे पूछा—'क्यों ?'

प्रकाशानन्द बोले—'वेदान्तमें ब्रह्मके श्रीविग्रहका निषेध किया गया है।'

श्रीचैतन्यमहाप्रभुने कुछ गम्भीर होकर कहा—'आप वेदान्तके किस सूत्रमें ऐसा समझते हैं कि वेदान्तमें श्रीविग्रहका निषेध किया गया है ?'

प्रकाशानन्दने कहा—'अरूपवदेव हि तत्प्रधानत्वात' (३।२।१४),तथा 'न प्रतीके न हि सः। (४।१।४) —इन दोनों सूत्रोंमें ब्रह्मका विग्रह अस्वीकार किया गया है।'

श्रीचैतन्यमहाप्रभुने हँसकर कहा—'श्रीपाद ! इन्हीं सूत्रों द्वारा ब्रह्मकी श्रीमूर्त्ति स्वीकृत है। 'अरूपवत् एव' का अर्थ यह नहीं है कि परतत्त्वका श्रीविग्रह ही नहीं है, बल्कि उसका तो यह अर्थ स्पष्ट झलकता है कि ब्रह्मका रूप है, परन्तु अनाधिकारियोंके निकट वह रूप अरूपकी भाँति या अरूपके न्याय अथवा अरूपकी तरह मालूम पड़ता है। श्रीमान्‌जी ! इस पहले सूत्रमें तुल्यके अर्थमें 'वतुप्'-प्रत्ययका प्रयोग हुआ है अर्थात् अरूपके तुल्य या अरूपकी तरह, परन्तु वास्तवमें अरूप नहीं। व्याकरणमें 'वतुप्' प्रत्ययका प्रयोग 'तुल्य', 'न्याय' या 'प्रकार' के अर्थोंमें किया गया है। इस सूत्र द्वारा ब्रह्मका प्राकृतरूप अर्थात् पाँचभौतिक रूप निषेध किया गया है। भगवान्‌का अप्राकृत सच्चिदानन्द रूप है। उनका पार्थिव रूप निषेध करनेके लिये ही उनको अरूपवत् कहा गया है। दूसरी बात त्रिगुणके अधीन मायाबद्ध जीव ब्रह्मका अप्राकृत रूप नहीं देख पाते, क्योंकि पार्थिव नेत्र केवल पार्थिव रूप ही दर्शन कर सकते हैं; इधर ब्रह्मका कोई पार्थिव रूप नहीं है। इसलिये बद्धजीव ब्रह्मका अप्राकृत रूप न देख सकनेके कारण उन्हें अरूपवत् ही जानते हैं। श्वेताश्वर उपनिषद्‌के निम्नलिखित मन्त्रमें ब्रह्मके प्राकृत रूपका निषेध कर अप्राकृत रूपकी स्थापना की गयी है—

अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः।
स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता तमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तम्
(श्वे० ३।१९)

अर्थात् परब्रह्म परमात्मा प्राकृत हाथसे रहित होने पर भी समस्त वस्तुओंको ग्रहण करते हैं, प्राकृत पैरोंसे रहित होने पर भी बड़े वेगसे इच्छानुसार सर्वत्र गमनागमन करते हैं, आँखोंसे रहित होने पर भी सर्वत्र सब कुछ देखते हैं, कानोंसे रहित होकर भी सब जगह सब कुछ सुनते हैं। तात्पर्य यह कि उनका रूप प्राकृत नहीं, बल्कि अप्राकृत—सच्चिदानन्द रूप है। ब्रह्म संहितामें और भी स्पष्ट कर देते हैं—

ईश्वरः परमः कृष्णः सच्चिदानन्दविग्रहः।
अनादिरादिर्गोविन्दः सर्वकारणकारणम्॥
(ब्रह्मसंहिता ५।१)

सर्व प्रमाण शिरोमणि श्रीमद्भागवत भी कहते हैं—

अहो भाग्यमहोभाग्यं नन्दगोपव्रजौकसाम्।
यन्मित्रं परमानन्दं पूर्णं ब्रह्म सनातनम्॥
(श्रीमद्भा० १०।१४।३१)

—देखो, नन्दगोप और व्रजवासियोंके भाग्यकी सीमा नहीं है। आज परमानन्दस्वरूप पूर्ण ब्रह्म सनातन उनके मित्रके रूपमें प्रकट हुए हैं। अस्तु, ब्रह्मका अप्राकृत श्रीविग्रह शास्त्रोंमें सर्वत्र स्वीकृत है। वेदान्त भी ब्रह्मकी श्रीमूर्त्ति स्वीकार करते हैं।"

श्रीचैतन्य महाप्रभुकी शास्त्र-संगत बात सुनकर प्रकाशानन्दका चेहरा उतर गया, फिर भी घायल साँपकी तरह अन्तिम युक्ति प्रस्तुत करते हुए बोले—'यहाँ पर 'वतुप्'-प्रत्ययका प्रयोग तुल्यके अर्थमें नहीं हुआ है, बल्कि 'अस्ति' के अर्थमें हुआ है। 'अरूप'-'शब्दके आगे अस्त्यर्थे वतुप्-प्रत्यय लगाकर-क्लीव लिंगमें 'अरूपवत्'-'शब्द बना है। जैसे 'भगवत्' शब्द है। अतएव अरूपवत् पद द्वारा ब्रह्म अरूप या निराकार ही सिद्ध होता है।'

श्रीचैतन्यमहाप्रभु बोले—'आपकी बात युक्तिके विरुद्ध है। जो वस्तु नहीं है, उसमें अस्ति (सत्ता) अर्थमें वतुप् प्रत्यय कभी नहीं लग सकता है। आत्यन्तिक अभाव जातीय वस्तुका अस्तित्व स्वीकृत नहीं होता। जो चीज नहीं है, वह है—ऐसा कदापि

नहीं कहा जा सकता है । गीतामें भी कहा गया है कि असत्‌की स्थिति नहीं है--'नासतो विद्यते भावो ।' अतएव गीताके अनुसार भी अस्ति (है) के अर्थमें वतुप्-प्रत्ययका अरूप शब्दके साथ योग नहीं किया जा सकता है श्रीमद्भागवत और गीताके रचयिता श्रीवेदव्यास ही वेदान्त सूत्रके रचयिता हैं । अतएव गीता और श्रीमद्भागवतके विचार और वेदान्त सूत्रके विचार परस्पर विरोधी नहीं हो सकते हैं। अस्तु, "कृष्णस्तु भगवान स्वयं", "नन्दगोपव्रजौकसाम्.....परमानन्दं पूर्णं ब्रह्म सनातनम्", "ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम" आदि वाणियोंके प्रकाशकके सूत्रोंका निराकारसूचक अर्थ करना सर्वथा अनुचित है ।'

उक्त सूत्रके अतिरिक्त (क) 'अपि संराधने प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्' (३।२।२४), (ख) 'प्रकाशश्च कर्मण्यभ्यासात्' (३।२।२६), (ग) 'प्रकाशवच्चावैशेष्यात्' (३।२।२५) आदि सूत्रों द्वारा भी ब्रह्मका श्रीविग्रह सिद्ध होता है । उक्त पहले सूत्रका तात्पर्य यह है कि ब्रह्म—रूप या विग्रह विशिष्ट नहीं होते, वे स्वयं ही विग्रह हैं । अतः वे अरूपवत् कहे जाते हैं । 'एव' शब्द विरुद्ध-युक्तियोंके निरासके लिये हैं । ब्रह्म-रूप ही प्रधान है । आत्मा ही उनका रूप या विग्रह है । वे विभुत्व, ज्ञातृत्व तथा व्यापकत्व आदि धर्मोंसे युक्त हैं । अतएव आत्मस्वरूप ब्रह्म आत्मविग्रहसे पृथक् नहीं हैं अर्थात् अभिन्न हैं । यदि कहो कि सर्वव्यापक का मध्यमाकार (पुरुषाकार) कैसे स्वीकृत हो सकता है ? इसके लिये कहते हैं—'अपि संराधने प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्' (३।२।२४) अर्थात् सर्वव्यापक होने पर भी अव्यक्त होने पर भी आराधनाके द्वारा उपासक परमेश्वरका प्रत्यक्ष दर्शन पाते हैं । यह बात श्रुति और स्मृति दोनोंसे सिद्ध है । जैसे श्रीमद्भागवत्‌में—'भक्त्या अहं एकया ग्राह्य'-(मैं एकमात्र भक्ति द्वारा ही ग्रहण किया जाता हूँ अर्थात् साक्षात्कार किया जा सकता हूँ ।) गीतामें भी कहा गया है-'भक्त्यात्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।' ब्रह्म संहितामें भी कहा गया है—

प्रेमांजनच्छुरित भक्ति विलोचनेन
सन्तः सदैवहृदयेऽपि विलोकयन्ति ।
यं श्यामसुंदरमचिन्त्यगुण स्वरूपं
गोविन्दमादि पुरुषं तमहं भजामि ॥

इस विषयको अगले दो सूत्रोंमें और भी स्पष्ट करते हैं । 'प्रकाशवच्चावैशेष्यात्'—अर्थात् अग्नि जिस प्रकार अव्यक्त है तथा स्थूल रूपसे दृश्य है, परमेश्वर भी उसी प्रकार है—ऐसा नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि परमेश्वरमें अग्निकी भाँति स्थूलता सूक्ष्मता नहीं है । वे श्रुति और स्मृतिके अनुसार स्थूल-सूक्ष्म नहीं हैं—'अस्थूलमनण्वह्रस्वं ।' वे सर्वत्र सर्वरूपमें प्रकाशमान और अज हैं—'स्थूलसूक्ष्म विशेषोऽत्र न कश्चित्परमेश्वरे सर्वत्रैव प्रकाशोऽसौ सर्वरूपेष्वजो यतः ।' यदि कोई यह कहे कि सम्यक् भक्ति द्वारा भी भगवद्दर्शन नहीं होता, अतएव वह निराकार है, तो इस शंकाका निरास करनेके लिये २६ वें सूत्रमें "च" का प्रयोग किया गया है । ध्यान निर्मित पूजादि कर्मके अभ्याससे ही उनका प्रकाश होता है । ब्रह्मोपनिषद्‌में ऐसा कहा गया है—'ध्यान-निर्म्मथनाभ्यासाद्देव पश्येन्निगूढवत् ।' ध्यान किसी विग्रहवान वस्तुका ही संभव है,निराकारका नहीं । जैसे कोई विरहिणी स्त्री विदेश गये कान्तका ध्यान करती है--इसमें कान्तका रूप है । बिना रूपके ध्यान संभव नहीं है । यहाँ विशेष बात यह है कि जैसे साधारण लोग तीव्र प्रकाशयुक्त सूर्यका आकार देख नहीं पाते, परन्तु किसी विशेष यन्त्र आदिसे सूर्यका आकार देखा जाता है, उसी प्रकार ज्ञानी और योगीजन प्रकाशयुक्त परमेश्वरका रूप देख नहीं पाते । वे परमेश्वरकी अङ्ग ज्योतिस्वरूप ब्रह्मको देख पाते हैं, परन्तु भगवद्भक्तजन कृष्ण-प्रेमका अञ्जन लगा कर उसके द्वारा ज्योतिको भेद कर सच्चिदानन्द रूपका दर्शन करते हैं—'ज्योतिरभ्यन्तरे रूपमतुलं श्याम सुन्दरम् । (नारदपंचरात्र) ।'

कोई-कोई 'न प्रतीके, न हि, सः ।' (वेदान्तसूत्र ४।१।४) सूत्र द्वारा भगवानके सच्चिदानन्द विग्रहका

निषेध समझते हैं; परन्तु यह उनकी भूल है। इस सूत्रका तात्पर्य यह है कि प्रतीक-पूजनसे सिद्धि नहीं होती अथवा भगवत्प्राप्ति नहीं होती। प्रतीक (प्रतिमा) के अन्दर भगवान्‌की स्थिति आरोप कर जो पूजन होता है, वह पूजन ठीक नहीं है। आचार्य शङ्करका इस विषयमें एक विचार है कि साधकके कल्याणके लिये अरूप ब्रह्मके रूपोंकी कल्पना की गयी है। उन कल्पित रूपोंका पूजन करनेसे चित्त-शुद्धि होने पर निराकार ब्रह्मका साधन सहज होता है। परन्तु काल्पनिक रूपोंमें (प्रतिमामें) भगवान्‌का पूजन ठीक नहीं है। सच्चिदानन्द-मूर्ति स्वयंरूप है, उसीका पूजन होना चाहिए। उपरोक्त वेदान्त सूत्रमें यही बात बतलायी गयी है। यहाँ विचार यह है कि क्या काल्पनिक रूपमें भगवत् पूजन होगा? 'न हि'—अर्थात् जोर देकर कहते हैं—नहीं। तब किससे होगा? 'स'—अर्थात् स्वयंरूप भगवान्‌के आत्मरूपका पूजन करनेसे भगवान्‌का साक्षात्कार होगा।

आज विश्वके ईसाई और मुसलमान दो धर्म भगवान्‌के विग्रहके प्रधान विरोधी हैं। परन्तु इन दोनोंके मूल धर्म ग्रन्थोंमें भगवान्‌के रूपका उल्लेख है। ईसाइयोंके धर्म-ग्रन्थ बाइबिलमें मानव-सृष्टिके विषयमें लिखा है—'God created men out of His own image.' अर्थात् परमेश्वरने अपने रूपके समान मनुष्यको पैदा किया। इसी प्रकार मुसलमानोंके धर्मग्रन्थ कुरानशरीफके एक आयतमें भी लिखा है—'इन्नालाहा खालाका मेन सूरात हि।' 'सूरत' का अर्थ है—आकार; अर्थात् खुदाने अपने सूरतके समान मनुष्यको बनाया है। अतएव कुरानशरीफ और बाइबिल—दोनों ग्रन्थोंद्वारा परमेश्वरका रूप अनुमोदित है। इतना होने पर भी यदि ये दोनों जातियाँ निराकारवादी हो रह जाती हैं और अप्राकृत साकारवादकी निंदा करती हैं, तो उन्हें अपने-अपने धर्मग्रन्थोंसे उक्त वचनोंको उड़ा देना चाहिए और अपने साकार उपासना गृह—गिर्जाघरों तथा मस्जिदोंको तोड़-फोड़ कर खुले मैदानमें या आकाशमें निराकारका ध्यान करना चाहिए था। शून्यवादी नास्तिक बौद्धों और जैनोंमें भी मूर्त्तियोंका प्रचलन है। बुद्धगया, सारनाथ, माउन्ट आबू, अजन्ता, एलोरा आदिमें उनकी मूर्तिपूजाका यथेष्ट प्रमाण है। अतएव सनातन वैदिक धर्मके विग्रह-विचारका उच्छिष्ट किसी-न-किसी प्रकार संसारके सभी धर्मोंमें विद्यमान है।

वैष्णवाग्रगण्य श्रीरामानुजाचार्यने श्रीविग्रहके सम्बन्धमें अपने 'प्रपन्नामृत' ग्रन्थमें एक विशेष विचार दिखलाया है कि केवल मुक्त पुरुषों द्वारा प्रतिष्ठित विग्रह ही पूजनीय हैं। उसीकी पूजासे भगवत्प्राप्ति होती है। अभक्तोंके द्वारा रखी गयी मूर्त्ति—प्रतिमा या पुतली होती है। वैष्णवजन ऐसी मूर्त्तियोंकी पूजा या प्रणाम नहीं करेंगे। उन्होंने यह प्रमाणित किया है कि भगवद्भक्तों द्वारा अनुमोदित, स्थापित या बहुत समयसे निरवच्छिन्नभावसे सेवित और प्रतिष्ठासम्पन्न श्रीमूर्त्तिकी ही पूजा करनी चाहिए।

श्रीविग्रह-सेवा मानव-धर्मकी आधार शिला है। महाजनोंने विशुद्ध भक्ति—प्रेमभक्तिद्वारा भगवान्‌की जिस श्रीमूर्त्तिका दर्शन किये हैं, विरहकी अवस्थामें वे भक्तिद्वारा पवित्र हुए अपने चित्तमें उसी शुद्ध चिन्मय मूर्त्तिकी भावना करते हैं। भावना करते-करते जब भक्तका चित्त जगतके प्रति प्रसारित होता है, तभी जड़ जगतमें उस चित्त-स्वरूपका प्रतिफलन अङ्कित होता है। वही श्रीविग्रह है। श्रीविग्रह उच्च अधिकारियोंके लिये सर्वदा चिन्मय विग्रह हैं, मध्यमाधिकारीकी दृष्टिमें मनोमय विग्रह जैसा दिखलायी पड़ता है और निम्नाधिकारियोंकी स्थूल दृष्टिमें वही चिन्मय विग्रह पहले-पहले जड़मय विग्रह होने पर भी क्रमशः भाव द्वारा शोधित बुद्धिके ऊपर चिन्मय-विग्रहके रूपमें उदित होता है। अतएव समस्त अधिकारियोंके लिये श्रीविग्रह भजनीय और पूजनीय है।

श्रीचैतन्यचरितामृत ग्रन्थमें डंकेकी चोटसे भगवान्‌के श्रीविग्रह तत्त्वका प्रतिपादन किया है—(१) ईश्वरेर श्रीविग्रह सच्चिदानन्दकार (म० ६।१६६), (२) चिदानन्द कृष्णविग्रह माथिक करि माने। एई बड़ पाप

सत्य चैतन्य वाणी ॥ (म० २५।३५), (३) प्रतिमा नह तुमि साक्षात् व्रजेन्द्रनन्दन । (म० ५।६६) । इस ग्रन्थमें श्रीविग्रहके सम्बन्धमें एक बड़े ही जीते-जागते उपाख्यानका वर्णन किया गया है । प्राचीन कालमें दक्षिण देशमें विद्यानगर नामक ग्राममें दो भगवद्-भक्त वास करते थे—एक बड़े विप्र, दूसरे छोटे विप्र । एक समय वे दोनों विभिन्न तीर्थोंमें भ्रमण करते हुए श्रीवृन्दावनमें पहुँचे । तीर्थ यात्राके दिनोंमें छोटे विप्र-ने वृद्ध बड़े विप्रकी सेवा बड़े प्रेम और लगनसे की । इससे बड़े विप्रने सन्तुष्ट होकर छोटे विप्रको विवाहके रूपमें अपनी कन्या देनेकी प्रतिज्ञा की । छोटे विप्रने बड़े विप्रके बार-बार कहने पर वृन्दावनके प्रसिद्ध गोपालजीके सामने बड़े विप्रसे वैसी प्रतिज्ञा करवा ली । गोपालजीको दोनोंने साक्षी बनाया । कुछ दिनों-के पश्चात् घर लौटने पर छोटे विप्रने बड़े विप्रको वृन्दावनकी प्रतिज्ञाको पूरी करनेके लिये कहा । परन्तु पुत्र और स्त्रीके कहनेमें आकर बड़े विप्रने कहा कि उसे वैसी किसी भी प्रतिज्ञाकी बात स्मरण नहीं है । इस पर छोटे विप्र पुनः वृन्दावन पहुँचे और गोपालजीसे उसके गाँव चल कर साक्षी देनेकी प्रार्थना किये । गोपालजी बोले—'मैं, प्रतिमा कैसे चल सकता हूँ ?' इस पर छोटे विप्रने कहा—'यदि आप प्रतिमा होकर बोल सकते हैं, तो चल भी सकते हैं । आप प्रतिमा नहीं हैं—साक्षात् व्रजेन्द्रनन्दन श्याम सुन्दर हैं—'प्रतिमा नह तुमि साक्षात् व्रजेन्द्रनन्दन ।' गोपाल-जी अपने प्रेमी भक्तकी बात सुन कर बड़े प्रसन्न हुए और उसके साथ हजारों मील पैदल चल कर उसके गाँव जाकर साक्षी दिये । उड़ीसा प्रदेशके कटक नगर-में आज भी वे साक्षीगोपाल विराजमान हैं । लाखों भक्त उनके दर्शनोंको जाते हैं ।

अतएव भगवानका श्रीविग्रह सच्चिदानन्दाकार होता है । परन्तु याद रखना चाहिए कि महापुरुषों-द्वारा प्रतिष्ठित श्रीविग्रह ही सच्चिदानन्दाकार हैं । यदि कोई साधारण बद्ध जीव भक्तोंद्वारा प्रतिष्ठित श्रीमूर्त्तिकी नकल कर वैसी ही दूसरी मूर्त्ति बना कर पूजे तो वह श्रीमूर्त्ति नहीं, प्रतिमा कहलायेगी । वैसी प्रतिमा-पूजनका ही शास्त्रोंमें निषेध है । जिस प्रकार Certified copy of a certified copy is no evidence अर्थात् सर्टीफायड नकलकी सर्टीफायड नकल साक्षीके रूपमें नहीं ग्रहणकी जा सकती है, उसी प्रकार महापुरुषों द्वारा प्रकाशित विग्रहकी नकल मूर्त्ति भी सच्चिदानन्द श्रीविग्रह नहीं है । सभी जानते हैं—सात नकलमें असल खास्ता ।

उपसंहारमें मैं यह दुहरा देना उचित समझता हूँ कि भगवानका सच्चिदानन्द श्रीविग्रह होता है । वे सच्चिदानन्द विग्रह अपने प्रेमी भक्तोंकी इच्छासे जगत-कल्याणके लिये प्रकट करते हैं और जगतके जीवोंकी सेवा ग्रहण कर उन पर कृपा करते हैं । उनका अवश्य ही पूजन होना चाहिए । इसमें जगतका अनन्त कल्याण निहित है ।

श्रीभागवत-पत्रिकाके पाठकोंसे प्रार्थना

श्रीकार्त्तिक-व्रतके उपलक्ष्यमें हुई श्रीव्रजमण्डलकी परिक्रमा एवं श्रीसंपादक महोदयकी अस्वस्थताके कारण श्रीभागवत पत्रिका विलम्बसे प्रकाशित हो रही हैं । श्रद्धालु पाठक इस विलम्बके लिये क्षमा करेंगे—प्रार्थना है ।

—प्रकाशक

जैव-धर्म

चौतीसवां अध्याय

मधुररस-विचार

[पूर्व-प्रकाशित वर्ष ६, संख्या ४, पृष्ठ ३६ से आगे]

विजय—प्रभो ! हम लोग क्षुद्र जीव हैं; इतना गूढ़ विषय हमारे हृदयमें सहसा उदित नहीं होता । आप कृपा कर इस विषयको इस प्रकार स्पष्ट रूपसे बतलावें, जिससे हम उसे आसानीसे समझ सकें और हमारा मंगल होवे ।

गोस्वामी—प्रेमरस दूधके समुद्रके समान है । उसमें वितर्क रूप गोमूत्र मिलानेसे वैरस्य होता है । इस विषयमें तत्त्वका विचार करना अच्छा नहीं होता । क्योंकि बड़ी सुकृतिके फल स्वरूप भक्तिदेवी जिनके हृदयमें चिदाह्लादिनीका प्रकाश प्रदान करती हैं, वे बिना तर्कके ही सार सिद्धान्तको पा लेते हैं । दूसरी तरफ, जो लोग मायिक तर्क-वितर्क और जड़ीय पाण्डित्यके बलपर उस सिद्धान्तको हृदयंगम करना चाहते हैं, उनके हृदयमें वे अचिन्त्य सिद्धान्त-समूह उदित नहीं होते, बरन् कुतर्कके बदले कुतर्क ही उदित होते हैं । परन्तु तुम परम सौभाग्यशाली जीव हो । भक्तिकी कृपासे सब कुछ समझ लिये हो, फिर भी सिद्धान्तकी दृढ़ताके लिये मुझसे पूछ रहे हो । मैं तुम को अवश्य बतलाऊँगा । तुम न तो तार्किक हो, न कर्मकाण्डी हो और न तो ज्ञानकाण्डी ही हो । तुम संयमी अथवा नितांत वैधी भक्तिके उपासकभी नहीं हो । मुझे तुम्हारे पास कोई भी सिद्धान्त बतलानेमें आपत्ति नहीं है । जिज्ञासु दो प्रकारके होते हैं—एक प्रकारके जिज्ञासु केवल शुष्क युक्ति अवलंबन कर जिज्ञासा करते हैं, दूसरे प्रकारके जिज्ञासु भक्तिकी सत्ताको विश्वास कर स्वतःसिद्ध प्रत्यय जिससे सन्तुष्ट हो सके, उसी प्रकार विचार करते हैं । शुष्क युक्तिवादियोंकी जिज्ञासाका कभी उत्तर नहीं देना, क्योंकि वे लोग यथार्थ सत्य बात पर कदापि विश्वास नहीं करेंगे । उनकी युक्ति मायाबद्ध होती है, अतएव अचिन्त्य भावोंके सम्बन्धमें पंगु होती है । अनेक ठेलाठेली करके भी उनकी बुद्धि अचिन्त्य विषयमें तनिक भी प्रवेश नहीं कर पाती । परमेश्वरके प्रति उनका रहा-सहा विश्वास भी हट जाता है—यही वितर्कका चरम फल होता है । भक्तिपक्षवाले विचारकगण अपने-अपने अधिकारके भेदसे अनेक प्रकार के होते हैं । शृङ्गार रसमें जिनका अधिकार पैदा हो गया है, केवल वे ही सद्गुरु पाने पर इस गूढ़ तत्त्व को समझ सकते हैं । विजय ! वृन्दावन लीलारस क्या ही अपूर्व रस है । जड़ जगतके शृंगाररस जैसा दिखलाई पड़ने वाला तत्त्व होने पर भी यह उससे सर्वथाविलक्षण है, रासपंचाध्याय (श्रीमद्भागवत में) ऐसा कहा गया है कि जो इस लीलाकी आलोचना करते हैं, उनका हृद्रोग मूल सहित दूर हो जाता है । (क) बद्ध जीवका हृद्रोग क्या है ? जड़ीय काम । रक्त, मांस आदि सप्तधातुमय जो स्त्री-पुरुषाभिमानी शरीर एवं मन, बुद्धि और अहङ्कारगत वासनामय अभिमान रूप लिंग शरीरको आश्रयकर जो काम रहता है, उसे सहज ही दूर करनेकी किसी की भी शक्ति नहीं है । वह काम केवल व्रजलीलाके अनुशी-

(क) श्रीमद्भागवत १०।३३।३० द्रष्टव्य ।

लनसे ही दूर किया जा सकता है। इसी सिद्धान्तमें तुम वृन्दावन लीलाके शृंगार रसकी एक परम चमत्कारिता देख पाओगे। तुम यह भी अनुभव करोगे कि यह अप्राकृत शृंगाररस आत्माराम-लक्षण निर्विशेष ब्रह्मको अत्यन्त दूर फेंक कर, तुच्छ बतलाकर स्वयं नित्य विराजमान है। यही नहीं, यह शृंगाररस ऐश्वर्यमय चिज्जगत् अर्थात् परव्योम वैकुंठके रसको भी अत्यन्त लघुकर नित्य देदीप्यमान है। इस रसकी महिमा सबसे बढ़ कर है। इसमें सान्द्रानन्द है। शुष्कानन्द, जड़ानन्द, संकुचितानन्द कुछ भी नहीं है। यह पूर्णानन्द स्वरूप है। इस पूर्णानन्दमें जो अनन्त विचित्र भाव हैं, वे रसकी पूर्णता साधन करनेके लिये अनेक स्थल पर परस्पर विजातीय भावापन्न हैं वे विजातीय भावसमूह कहीं-कहीं स्नेहात्मक होते हैं और कहीं-कहीं द्वेष आदि भावात्मक होते हैं। परन्तु जड़ीय द्वेष आदि भाव जिस प्रकार हेय और दोष पूर्ण होते हैं, ये अप्राकृत रसके भावसमूह वैसे नहीं होते। ये तो परमानन्दके ही विकारवैचित्र्यमात्र हैं। रस समुद्रकी लहरियोंकी भाँति उठ कर समुद्रको लहराती रहती हैं। अस्तु; श्रीरूप गोस्वामीका सिद्धान्त यह है कि भाव—विचित्र हैं। जो भावसमूह सब तरह से सजातीय हैं, वे स्वपक्षगत भाव हैं। जहाँ थोड़ीसी विजातीयता, किन्तु अधिक स्वजातीयता है, वे सुहृत्पक्षगत भाव हैं। जहाँ विजातीयता अधिक और सजातीयता अल्प होती है, वे भाव तटस्थ भाव कहलाते हैं। और जहाँ सम्पूर्ण रूपमें विजातीयता हो वहाँ वे भावसमूह विपक्षगत भाव होते हैं। एक बात और है, जिस समय भाव विजातीय होते है, उस समय परस्पर रुचिप्रद नहीं होते हैं, अतएव उस परमानन्द रसमें एक प्रकार ईर्ष्या आदि जैसे भावोंको पैदा करते हैं।

विजय—पक्ष और विपक्ष भावोंकी आवश्यकता क्यों होती है?

गोस्वामी—दो नायिकाओंके भाव जिस समय परस्पर एक समान होते हैं, उसी समय पक्ष और विपक्ष भावोंका उदय होता है। इसलिये मैत्र भाव और विद्वेष भाव रस विकारके रूपमें कार्य करते हैं। यह भी अखण्ड शृंगाररसके परम माधुर्यकी समृद्धिके लिये ही होता है—ऐसा समझना।

विजय—श्रीमती राधा और श्रीमती चन्द्रावली क्या ये दोनों तत्त्वकी दृष्टिसे बराबर शक्तियाँ हैं?

गोस्वामी—नहीं, नहीं। श्रीमतीराधा ही महाभावमयी, ह्लादिनी-सार-स्वरूपा हैं; चन्द्रावली श्रीराधाकी ही कायव्यूह है तथा श्रीराधासे अनन्त अंशोंमें लघु हैं। तथापि शृंगार रसमें श्रीराधाके प्रेमरसकी पुष्टिके लिये चन्द्रावलीमें राधाकी साम्यताका एक भाव देकर विपक्षता उत्पन्न किये हैं। फिर देखो, दोनों युथेश्वरियोंमें भावकी सम्पूर्ण सजातीयता भी नहीं हो सकती। यदि किसी अंशमें ऐसा हो भी जाय तो वह केवल घुन द्वारा काटे गये अक्षरके समान दैवात ही होती है। वास्तवमें रसके स्वभाविक रूपमें ही स्वपक्षविपक्ष भावोंका उदय होता है।

विजय—प्रभो, मेरे थोड़ेसे जो संशय थे, वे भी दूर हो गये। आपके मधुर उपदेश मेरे कानोंके पथ से हृदयमें प्रवेश कर वहाँकी सारी कटुताका ध्वंस कर रहे हैं। मैं मधुर-रसके विभावगत आलम्बनको सम्पूर्ण रूपसे समझ गया। सच्चिदानन्द कृष्णही एकमात्र नायक हैं। उनके रूप, गुण और चेष्टाओंका ध्यान कर रहा हूँ। धीरोदात्त, धीरललित, धीरशांत और धीरोद्धत स्वभाववाले वही नायक, पति और उपपति रूपमें रसमें नित्यलीलामय हैं। उसी प्रकार वे अनुकूल दक्षिण, शठ और धृष्ट भी हैं। चेट, विट विदूषक, पीठमर्द्दक और प्रियनर्मसखा द्वारा सदा सेवित हैं, वंशी बजाना उनको प्रिय है। आज मधुर रसके विषयरूप कृष्ण मेरे हृदयमें उदित हुए। साथ ही मधुर रसके आश्रय व्रजकी ललनाओंका तत्त्व भी समझ गया। ये ललनाएँ ही नायिका हैं। स्वकीया और परकीया भेदसे नायिका दो प्रकारकी होती हैं। व्रजमें परकीया नायिकाएँ ही शृङ्गार रस का आश्रय है। वे साधनपरा, देवी और नित्यप्रिया-

के भेदसे तीन प्रकारकी होती हैं। व्रजललनाएँ यूथोंमें विभक्त होकर कृष्णकी सेवा करती हैं। करोड़ों व्रजललनाएँ अनेकों युथेश्वरियोंके अधीन होती हैं। सब युथेश्वरियोंमें श्रीराधा और चन्द्रावली प्रधाना हैं। सखी, नित्यसखी, प्राणसखी, प्रियसखी, और परमप्रेष्ठसखी—ये पाँच प्रकारके भेद श्रीराधाकी यूथमें हैं। ललिता आदि अष्टसखियाँ परमप्रेष्ठसखी हैं। ललिता आदि यूथेश्वरी होने योग्य रहने पर भी वे श्रीराधाकी अनुगत-सखी रहनेकी इच्छाके कारण पृथक् यूथ निर्माण नहीं करतीं। इनकी अनुगत सखियाँ उनका गण कहलाती है—जैसे ललितागण, विशाखागण इत्यादि। नायिकाएँ मुग्धा, मध्या और प्रगल्भा-भेदसे तीन प्रकारकी होती हैं, और इन तीनोंमें से मध्या और प्रगल्भा पृथक् पृथक् धीरा, अधीरा और धीराधीरा भेदसे छः प्रकारकी हुईं। इन छहोंमें मुग्धाको मिलाकर सात हुईं। ये सातों स्वकीया और परकीयाभेदसे चौदह प्रकारकी हुईं। इनमें एक कन्याको मिलाकर पन्द्रह प्रकारकी नायिकायें होती हैं। नायिकाओंकी अभिसारिका आदि आठ अवस्थायें होती हैं। पुनः उत्तमा, मध्यमा और कनिष्ठाके भेदसे सब मिलाकर कुल १५×८×३=३६० प्रकारकी नायिकाएँ होती हैं। युथेश्वरियोंके सुहृद आदि व्यवहार और उनके तात्पर्य भी हृदयमें उदित हुए हैं। मैंने दूत्यकार्य और सखीकार्य इन दोनोंको भी समझ लिये। इन सबको जान कर मैंने अब रसका आश्रय तत्त्व भी समझ लिया है। रसके विषय और आश्रयको एकत्र करनेसे विभावके अन्तर्गत आलम्बन तत्त्व भी समझमें आ गया है। कल उद्दीपनके विषयमें जान लूँगा। कृष्णकी मुझ पर अपार करुणा है कि आप जैसे सद्गुरुका संग प्राप्त कर सका हूँ। मैं आपके मुख विगलित सुधाका पान करके ही पुष्ट होऊँगा।

गोस्वामीने विजयको गलेसे लगाकर कहा—'बेटा! तुम जैसा शिष्य पाकर मैं भी कृतकृतार्थ हुआ। तुम जितना अधिक जिज्ञासा करते हो, श्रीनिमानन्द मेरे मुखसे उन प्रश्नोंका उत्तर दे रहे हैं। दोनोंके नेत्रोंसे प्रेमके आँसू गिरने लगे।

विजयका सौभाग्य देखकर श्रीध्यानचन्द्र आदि महात्मावर्ग परमानन्दमें मग्न हो गये। उसी समय राधाकान्तमठमें बाहरसे कुछ शुद्ध वैष्णव पहुँचे और चण्डीदासके निम्नलिखित पदका गान करने लगे—

सइ (सखी), केवा सुनाइल श्यामनाम।
कानेर भितर दिया, मरमे पशिल गो,
आकुल करिल मोर प्राण।
ना जानि कतेक मधु, श्यामनामे आछेगो,
बदन छाड़िते नाहि पारे।
जपिते जपिते नाम, अवश करिल गो,
अंगेर परशे किवा हय।
जेखाने बसति तार नयने देखिया गो,
युवति धरम कैछे रय।
पाशरिते करि मने, पाशरा ना जाय गो,
कि करिब कि हबे उपाय।
कहे द्विज चण्डीदासे, कुलवती कुलनाशे,
अपनार यौवन जाचाय॥

मृदंग और करतालके साथ डेढ़ घण्टे तक उपरोक्त कीर्त्तन करते-करते सभी प्रेममें मग्न हो गये। उनका आवेश कुछ कम होने पर विजयकुमारने सब वैष्णवों को यथायोग्य सम्मान देकर और गुरु गोस्वामीको साष्टांग प्रणाम कर हरचण्डीसाहीको चल पड़े।

पैंतीसवां अध्याय

मधुर रसविचार

दूसरे दिन भोजन करनेके उपरान्त विजयकुमार ठीक समय पर गुरु गोस्वामीके चरणोंमें उपस्थित हुए और साष्टांग दण्डवत् प्रणाम कर उनके चरणों में लोट-पोट गये। गोस्वामीजीने उनको उठाकर

हृदयसे लगा लिया और बड़े प्रेमसे अपने निकट बैठाया । सुयोग देखकर विजयकुमारने पूछा—प्रभो ! मैं मधुर रसके उद्दीपनोंको समझना चाहता हूँ । कृपाकर बतलाया जाय ।

विजयकुमारकी बात सुनकर गुरु गोस्वामीने कहा—मधुर रसमें कृष्ण और कृष्णवल्लभागणोंके गुण, नाम, चरित, मण्डन, सम्बन्धी और तटस्थ, ये सब विषय उद्दीपन-विभाव हैं ।

विजय—पहले गुणोंको बतलानेकी कृपा करें ।

गोस्वामी—गुण तीन प्रकारके हैं—मानस, वाचिक और कायिक ।

विजय—इस रसमें मानस गुण कितने प्रकारके होते हैं ?

गोस्वामी—कृतज्ञता, क्षमा एवं करुणादि अनेक प्रकारके मानस गुण हैं ।

विजय—वाचिक गुण कितने प्रकारके हैं ?

गोस्वामी—कानोंको आनन्द देने वाले वचन ही वाचिक गुण हैं ।

विजय—कायिक गुण कितने प्रकारके होते हैं ?

गोस्वामी—वयस, रूप, लावण्य, सौन्दर्य अतिरूपता, माधुर्य, मार्द्दव आदि कायिक गुण हैं । इस रसमें वयःसन्धि, नव्यवयस, व्यक्तवयस और पूर्णवयस—ये चार प्रकारके मधुर-रसाश्रित वयस हैं ।

विजय—वयःसन्धि किसे कहते हैं ?

गोस्वामी—बाल्य और यौवनकी सन्धिको वयःसन्धि कहते हैं । उसीका नाम प्रथम कैशोर है । सम्पूर्ण किशोरावस्था वयःसन्धिके अन्तर्गत होती है । पौगण्डको बाल्य कहा जा सकता है । कृष्ण और प्रियाओंका वयःसन्धि-माधुर्य ही—उद्दीपन है ।

विजय—नव्यवयस किसे कहते हैं ?

गोस्वामी—नवयौवन, कुछ उभड़े हुए स्तन, नेत्रों में चंचलता, मन्दहास्य और मनकी कुछ-कुछ विक्रिया होना आदि नव्यवयसके लक्षण हैं ।

विजय—व्यक्तवयस कैसी होती है ?

इस प्रश्नके बीच ही में एक वैष्णव और एक शंकरमठके पण्डित संन्यासी देव-दर्शनके लिये उपस्थित हुए । वैष्णवको अपनेमें पुरुष रूप दास अभिमान था और शंकर संन्यासी शुष्क ब्रह्म चिन्तामें मग्न थे । अतएव उनमें से किसीको भी व्रजगोपी अभिमान न था । पुरुषाभिमानी व्यक्तिके निकट रस-कथाकी आलोचना करना निषेध रहनेके कारण गोस्वामी और विजय दोनों चुप हो गये और आगन्तुक वैष्णव और एकदण्डि संन्यासीके साथ इधर-उधरकी साधारण बातें करने लगे । कुछ देरके बाद जब वे दोनों सिद्धबकुलकी ओर चले गये, तब विजयने तनिक हँसकर पुनः अपने प्रश्नको दुहराया ।

गोस्वामी—व्यक्तवयसमें स्तन स्पष्ट रूपमें उठ जाते हैं, मध्यदेशमें त्रिवली पड़ जाती है तथा सम्पूर्ण अङ्गोंमें उज्वल कान्ति झलकने लगती है ।

विजय—पूर्ण वयस कैसी होती है ?

गोस्वामी—जिस वयसमें नितम्ब (कमरका पिछला उभरा हुआ भाग) ऊँचे हो उठते हैं, मध्यदेश क्षीण होता है, समस्त अङ्ग उज्ज्वलकान्तिसे युक्त होते हैं, स्तन स्थूलकार होते हैं, जंघे कदली वृक्षकी भाँति होते हैं, उस वयसको पूर्णवयस कहते हैं । किसी-किसी व्रजसुन्दरीकी अल्पतारुण्य अवस्थामें भी पूर्ण-यौवन दिखलायी पड़ता है ।

(क्रमशः)